वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ५२ अंक ८ अगस्त २०१४

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अगस्त २०१४

प्रबन्ध सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी प्रपत्त्यानन्द

सह-सम्पादक
स्वामी मेधजानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी स्थिरानन्द

वर्ष ५२
अंक ८

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि इलेक्ट्रॉनिक या साधारण मनिआर्डर से भेजें अथवा **ऐट पार** चेक – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, ४०३६९५९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)
रविवार एवं अन्य अवकाश के दिनों को छोड़कर

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

संपादक महोदय से मुझे भी कुछ कहना है -

मेरी आयु को ८० वर्ष पुरा होने में लगभग एक वर्ष शेष है, दृष्टि बहुत ही कम रह गयी है, इसलिये इस पत्रिका का 'प्रिंट' पढ़ा नहीं जाता । .. सम्भव हो तो इसे सुधारने का प्रयत्न करें । यह सुगम नहीं है, फिर भी वृद्ध जनों की आवश्कता को ध्यान में रखते हुये अक्षर को कुछ बड़ा करने का प्रयास करें ।

- प्रेमचंद कतना (हमीरपुर, हिमाचल प्रदेश)

यदि आप छोटे रूप से प्रेरक-कथा पत्रिका में दें, तो लोगों को बहुत ही आत्म-बल मिलेगा ।

- बच्चु लाल गुप्ता, बिलासपुर (छत्तीसगढ़)

बाल-वर्ग शीर्षक और युवा-वर्ग शीर्षक से एक-एक पृष्ठ देने की कृपा करें । इससे बच्चों तथा युवकों को प्रेरणा मिलेगी । - हरिश चन्द्र चित्करा, दिल्ली

संपादक - सम्माननीय पाठको, आपकी सुविधानुसार हमने अक्षर बड़ा कर दिया है । लघु बोध-कथाएँ और अन्यान्य लेखों की संख्या बढ़ा रहे हैं । भविष्य में आपकी सुविधाओं का यथासम्भव ध्यान रखा जायेगा ।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है ।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो । पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय । पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो । भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें ।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें ।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें । अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें ।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता । स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं ।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय ।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा ।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें । वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है ।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं । सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव इलेक्ट्रॉनिक या साधारण मनिआर्डर से भेजें या **ऐट पार** चेक -'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें । यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें ।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें ।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें । उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा ।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें ।

पुरखों की थाती

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ।।४०९।।

– बुद्धिमान् व्यक्ति बिना पूछे किसी को ज्ञान न दे और विधिपूर्वक न पूछे जाने पर भी मौन रहे; सब कुछ जानते हुए भी वह अज्ञानी के समान आचरण करे। (मनुस्मृति)

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ।।४१०।।

– हे नारदजी, न तो मैं वैकुण्ठ में रहता हूँ, न योगियों के हृदय में बसता हूँ। मेरे भक्तगण जहाँ मेरी महिमा का गायन करते हैं, मैं वहीं पर उपस्थित रहता हूँ। (आदि पुराण)

नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः ।
विक्रमार्जित-राज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता ।।४११।।

– वन के प्राणी कोई सिंह का राज्याभिषेक नहीं करते। अपने बल से अर्जित राज्य के पशुओं पर शासन करने का अधिकार उसे स्वयं ही प्राप्त हो जाता है। (गरुड़ पुराण)

नायमत्यन्त-संवासो लभ्यते येन केनचित् ।
अपि स्वेन शरीरेण किमुताऽन्येन केनचित् ।।४१२।।

– कोई भी किसी के साथ बहुत दिनों तक नहीं रह सकता। जब यह शरीर ही अधिक दिन साथ नहीं देता, तब भला औरों के विषय में क्या कहा जाय !

निरुत्साहं निरानन्दं निर्वीर्यमरिनन्दनम् ।
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम् ।।४१३।।

– निरुत्साही, आनन्दहीन, दुर्बल और अपने शत्रुओं को सुख देनेवाले पुत्र को कोई भी माता जन्म न दे।

सरस्वती-वन्दना

(केदार–रूपक)

माँ भारती ! माँ भारती !!
करुणामयी होकर जननि, तुम क्यों हमें न उबारती !!

बीती दुखद लम्बी निशा, नव रौशनी लेकर उषा,
मंगलमयी बेला में अब, तव पादपद्म पखारती ।।

यह देश क्यों उद्भ्रान्त है, क्यों मृत्यु-सम जड़-शान्त है,
तुम क्यों न पौरुष को जगा-कर आपदा से तारती ।।

यह पंचदीपक देह है, उर में उमड़ता स्नेह है,
मन-प्राण बाती को जला, होगी तुम्हारी आरती ।।

मातृ-वन्दना

(भैरवी–रूपक)

चित्त चरणों में सदा हो, माँ हमें वरदान दे;
जगत् में कर्तव्य-निष्ठा, और हृदि में ज्ञान दे ।।

पाँव विचलित हों नहीं, सन्मार्ग पर चलता रहूँ;
आपदाओं-अड़चनों के बीच भी बढ़ता रहूँ;
दिव्यता का अंश हूँ, मुझको सतत यह भान दे ।।

हों सभी मेरे सुहृद, पीड़ित किसी को ना करूँ;
हो सका तो आर्त-जन की, शक्ति भर सेवा करूँ;
बस यही है याचना, निज लक्ष्य का सन्धान दे ।।

इस जगत् में कुछ नहीं, अपना जिसे मैं कह सकूँ;
एक तेरे आसरे सुख-दुख सभी कुछ सह सकूँ;
हूँ जननि तव तनय मैं, इसका मुझे अभिमान दे ।।

– 'विदेह'

मेरी आस्था, मेरा विश्वास

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' नामक एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

मुझे ईश्वर पर और साथ ही मनुष्य पर भी विश्वास है। मैं दुखी लोगों की सहायता करने में विश्वास करता हूँ और दूसरों को बचाने के लिए नरक तक में जाने को तैयार हूँ।[१]

यदि मेरे द्वारा कोई अपराध होने से भी किसी मनुष्य की सच्ची सहायता हो सके, तो मैं सचमुच ही वैसा करके चिरकाल के लिये नरक में जाने को तैयार हूँ।[२]

सम्भव है कि मुझे पुन: जन्म लेना पड़े, क्योंकि मुझे मनुष्य से प्रेम हो गया है।[३]

मैं उस भगवान या धर्म पर विश्वास नहीं करता, जो न विधवाओं के आँसू पोंछ सकता है और न अनाथों के मुँह में एक टुकड़ा रोटी ही पहुँचा सकता है।[४]

किसी अनुष्ठान या मान्यता से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरा उद्देश्य केवल यह दर्शाना है कि धर्म सब कुछ है और सब वस्तुओं में है।[५]

मनुष्य की गरिमा उसकी विचारशीलता के कारण है, पशुओं से हम इसी बात में भिन्न हैं। मैं बुद्धि में विश्वास करता हूँ और बुद्धि का ही अनुसरण करता हूँ। यह मैं विशेष रूप से देख चुका हूँ कि केवल आप्त वचनों में विश्वास करने से क्या अनिष्ट होता है, क्योंकि मैं जिस देश में पैदा हुआ हूँ, वहाँ आप्त वचनों में विश्वास की पराकाष्ठा है।[६]

आदर्श धर्म कहकर यदि कोई बात हो, तो उसे उदार और विस्तृत होना चाहिये, ताकि वह इन विभिन्न मनों के उपयोगी खाद्य जुटा सके। उसे ज्ञानी को दार्शनिक विचारों की दृढ़ भित्ति, उपासक को भक्त-हृदय, अनुष्ठानिक को उच्चतम प्रतीक-उपासना-लभ्य भाव तथा कविसुलभ हृदय का उच्छ्वास और अन्य तरह के स्वभावों वाले व्यक्तियों के लिये अन्यान्य भाव जुटाने के लिए उपयोगी होना पड़ेगा। इस प्रकार उदार धर्म की सृदृष्टि करने के लिए, हम लोगों को धर्म के अभ्युदय-काल में लौट जाना होगा और उन सबको सत्य के रूप में ग्रहण करना होगा।

अत: वर्जन नहीं, अपितु ग्रहण (acceptance) ही हमारा मूलमंत्र होना चाहिए । केवल परधर्म-सहिष्णुता (toleration) नहीं, क्योंकि तथाकथित सहिष्णुता प्राय: ईश-निन्दा होती है, इसलिए मैं उस पर विश्वास नहीं करता। मैं ग्रहण में विश्वास करता हूँ। मैं क्यों पर-धर्म-सहिष्णु होने लगा ! परधर्म-सहिष्णु कहने से मैं यह समझता हूँ कि कोई धर्म अन्याय कर रहा है और मैं कृपापूर्वक उसे जीने की आज्ञा दे रहा हूँ। तुम जैसा या मुझ जैसा कोई आदमी किसी को कृपापूर्वक जीवित रख सकता है, यह समझना क्या भगवान की निन्दा नहीं है? अतीत के धर्म-सम्प्रदायों को सत्य कहकर ग्रहण करके मैं उन सबके साथ ही आराधना करूँगा। प्रत्येक सम्प्रदाय जिस भाव से ईश्वर की आराधना करता है, मैं उनमें से प्रत्येक के साथ ही ठीक उसी भाव से आराधना करूँगा। मैं मुसलमानों के साथ मस्जिद में जाऊँगा, ईसाइयों के साथ गिरजे में जाकर क्रूसविद्ध ईसा के सामने घुटने टेकूँगा, बौद्धों के मन्दिर में प्रवेश कर बुद्ध और संघ की शरण लूँगा और वन में जाकर हिन्दुओं के पास बैठकर ध्यान में निमग्न होकर, उन्हीं की भाँति सबके हृदय को उद्‌भासित करने वाली ज्योति के दर्शन करने की चेष्टा करूँगा।

केवल इतना ही नहीं, मैं उनके लिए भी अपना हृदय

उन्मुक्त रखूँगा, जो बाद में आयेंगे। क्या ईश्वर की पुस्तक समाप्त हो गयी है या वह अब भी क्रमश: प्रकाशित हो रही है? संसार की यह आध्यात्मिक अनुभूति एक अद्‌भुत पुस्तक है। बाइबिल, वेद, कुरान तथा अन्य धर्मग्रन्थ मानो उसी पुस्तक के एक-एक पृष्ठ हैं और उनके असंख्य पृष्ठ अभी भी अप्रकाशित हैं। मेरा हृदय उन सबके लिए उन्मुक्त रहेगा। हम वर्तमान में तो हैं ही, परन्तु हमें अनन्त भविष्य की भावराशि ग्रहण करने के लिए भी तैयार रहना पड़ेगा। अतीत में जो कुछ भी हुआ है, वह सब हम ग्रहण करेंगे, वर्तमान ज्ञान-ज्योति का उपभोग करेंगे और भविष्य में जो उपस्थित होंगे, उन्हें ग्रहण करने के लिए, हृदय के सब दरवाजों को खुला रखेंगे। अतीत के ऋषिकुल को प्रणाम, वर्तमान के महापुरुषों को प्रणाम और जो जो भविष्य में आयेंगे, उन सबको प्रणाम ![७]

मेरे जैसे नगण्य व्यक्ति ने भी अपने जीवन में अनुभव किया है कि **उत्तम लक्ष्य, निष्कपटता और अनन्त प्रेम से विश्व-विजय किया जा सकता है। ऐसे गुणों से सम्पन्न एक मनुष्य भी करोड़ों पाखण्डी तथा निर्दयी मनुष्यों की दुर्बुद्धि को नष्ट कर सकता है।**[८]

देखो, मैं बिना यह विश्वास किये नहीं रह सकता कि कहीं कोई ऐसी शक्ति है, जो अपने को नारी मानती है और काली अथवा माँ कही जाती है। ... और मैं ब्रह्म में भी विश्वास करता हूँ, ... किन्तु क्या वह सदैव ऐसी ही नहीं है? क्या इस शरीर में कोषाणुओं का समूह ही व्यक्तित्व का निर्माण नहीं करता; क्या, केवल एक नहीं, बल्कि अनेक मस्तिष्क केन्द्र ही चेतना की सृष्टि नहीं करते? ... जटिलता में एकता ! ठीक ऐसा ही है। यह बात ब्रह्म के सन्दर्भ में भिन्न क्यों हो? वह ब्रह्म है। वह एक है। फिर, वही देवताओं के रूप में भी है।[९]

काली-पूजा किसी भी धर्म का आवश्यक साधन नहीं है। धर्म के विषय में जितना कुछ भी जानने योग्य है, उपनिषद् उसकी शिक्षा देते हैं। काली-पूजा मेरी अपनी विशिष्ट 'सनक' है। तुमने कभी भी उस विषय पर मुझे प्रवचन करते या भारत में उसकी शिक्षा देते हुए नहीं सुना होगा। मैं केवल उन्हीं चीजों की शिक्षा देता हूँ, जो पूरी मानवता के लिए हितकर हैं। यदि ऐसी कोई विचित्र विधि है, जो केवल मुझ पर ही लागू होती है, तो मैं उसे गुप्त रखता हूँ और यहीं सब बात समाप्त हो जाती है। मैं तुम्हें नहीं बताऊँगा कि काली-पूजा क्या है, क्योंकि कभी मैंने इसकी शिक्षा किसी को नहीं दी। ...

उपनिषदों के सिद्धान्तों पर आधारित हमारे धर्म में अनुष्ठानों तथा प्रतीकों के लिए कोई स्थान नहीं है। बहुत-से लोग ऐसा सोचते हैं कि अनुष्ठानों के सम्पादन से धर्म का साक्षात्कार करने में सहायता मिलती है। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

धर्म वह है, जो धर्म-ग्रन्थों या उपदेशकों अथवा मसीहा या उद्धारक पर निर्भर नहीं रहता; और जो हमें इस जीवन में या किसी अन्य जीवन में दूसरों पर आश्रित नहीं बनाता। इस अर्थ में उपनिषदों का अद्वैतवाद ही एकमात्र धर्म है। लेकिन धर्म-ग्रन्थों, मसीहों, अनुष्ठानों आदि का अपना स्थान है। वे बहुतों की सहायता कर सकते हैं, जैसे कि काली-पूजा मेरे ऐहिक कार्यों में मेरी सहायता करती है। उन सबका स्वागत है।[१०]

मैं जो चाहूँ कर सकता हूँ, मैं मुक्त हूँ। कभी मैं हिमालय पर्वत पर रहता हूँ और कभी नगरों की सड़कों पर। मुझे नहीं मालूम कि मेरा अगला भोजन कहाँ मिलेगा। मैं अपने पास कभी पैसे नहीं रखता। मैं यहाँ चन्दे के द्वारा आया हूँ। ...

यह अच्छी पोशाक है, जब मैं स्वदेश में रहता हूँ, मैं कुछ वस्त्र-खण्ड पहनता हूँ और नंगे पाँव चलता हूँ। क्या मैं जाति मानता हूँ? जाति एक सामाजिक प्रथा है, धर्म का इससे कोई सम्बन्ध नहीं। सभी जातियाँ मुझसे सम्पर्क रख सकती हैं। ...

जब मैं प्रत्येक स्त्री में केवल जगदम्बा को ही देखता हूँ, तो फिर मैं विवाह क्यों करूँ? मैं यह सब त्याग क्यों करता हूँ? अपने को सांसारिक बन्धनों और आसक्तियों से मुक्त करने के लिए, ताकि मेरा पुनर्जन्म न हो। मृत्यु के बाद मैं अपने आपको परमात्मा में मिला देना चाहता हूँ, परमात्मा के साथ एक हो जाना चाहता हूँ। मैं 'बुद्ध' हो जाऊँगा।[११] (क्रमश:)

सन्दर्भ-सूची –

१. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ३, पृ. ३२४; **२.** The Master as I saw Him, Sister Nivedita, सं.१९६२, पृ.२६; **३.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ४०७; **४.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ३, पृ. ३२२; **५.** वही, खण्ड ४, पृ. २४३; **६.** वही, खण्ड ८, पृ. ४४; **७.** वही, खण्ड ३, पृ. १३७-३८; **८.** वही, खण्ड ६, पृ. ३०७; **९.** The Master as I saw Him, Sister Nivedita, सं.१९६२, पृ. १४०-४१; **१०.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ. ३३९-४०; **११.** वही, खण्ड १०, पृ. २३३;

धर्म-जीवन का रहस्य (४/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. में विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'धर्म' विषयक प्रवचन को 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महा-विद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी और सम्पादन स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

रामायण में भी इस दम्भ के सूत्र हैं। हनुमानजी जा रहे हैं द्रोणाचल पर्वत पर लक्ष्मणजी के लिये दवा लेने के लिये और हनुमानजी को मार्ग में प्यास लगी। हनुमानजी ने देखा कि बड़ा सुन्दर आश्रम है और वहाँ मुनिजी बैठे हुए हैं –

मारुतसुत देखा सुभ आश्रम ।। ६/५६/२

उन्होंने सोचा – मुनिजी से आज्ञा लेकर जल पीऊँ, इससे थकान और प्यास भी मिटेगी –

मुनिहि बूझि जल पियौं जाइ श्रम ।। ६/५६/२

एक बार तो हनुमानजी भी नहीं पहचान पाये। इससे आप हनुमानजी पर अश्रद्धा न कर लीजियेगा। उसका सांकेतिक अर्थ यह है कि वह वस्तुत: कालनेमि था और वह मुनि का वेष बनाये हुए था। इतना भव्य उसका आश्रम था, इतना बढ़िया वेष बनाये हुए था और इतना सुन्दर उसका आचार-व्यवहार था कि हनुमानजी, जो साक्षात् 'ज्ञानिनामग्रगण्यम्' – ज्ञानियों में अग्रगण्य हैं, उन्होंने जाकर उन्हें मुनि समझकर प्रणाम किया और कहा कि मुनिजी मैं थका हुआ प्यासा हूँ, आप कृपाकर मेरी प्यास बुझावें।

तब उसने अपना कमण्डलु देते हुए कहा कि तुम यह जल पी लो। बस, हनुमानजी की रक्षा हो गई। यदि थोड़े प्यासे होते, तो उसे पी लेते, पता नहीं उस कमण्डलु के जल में उसने क्या मिला रखा था। पर हनुमानजी ने कहा – मुनिजी, मेरी प्यास तो बहुत बड़ी है। बहुत बढ़िया बात है। दम्भी लोगों से धोखा वे ही लोग खाते हैं, जिनकी प्यास छोटी होती है। जिनकी प्यास असीम होती है, वे दम्भी के कमण्डलु से धोखा नहीं खायेंगे। कमण्डलु की और उसके चमत्कार की एक सीमा है। हनुमानजी की भूख भी बड़ी है और प्यास भी बड़ी है। यह सांकेतिक भाषा है। संसार में भूखा कौन नहीं है, प्यासा कौन नहीं है? और प्रतापभानु के जीवन में भी आपको यही बात मिलेगी –

खेद खिन्न छुद्धित तृषित राजा बाजि समेत ।। १/१५७

राजा भूखा हो गया। संसार में सभी भूखे हैं और भूखे व्यक्ति का स्वभाव होता है कि जो भी मिल जाय, खा ले; जो भी जल मिले, पी ले। भूख लगने पर चाहे जो खा लीजिये, पेट तो भरेगा, पर बाद में रोग उत्पन्न हो जायेगा। गन्दा जल पी लीजियेगा, तो प्यास तुरन्त बुझेगी, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वह बाद में भी स्वस्थता प्रदान करेगा। हमारे एक स्नेही डाक्टर थे, पूरनचन्द्र जी कक्कड़। वे स्वच्छता के बड़े प्रेमी थे, दिन भर 'स्वच्छ' 'स्वच्छ' कहते रहते थे। हमारे एक श्रोता निगमजी उनसे हमेशा व्यंग्य करते रहते थे। कहते – आप क्या 'स्वच्छ' 'स्वच्छ' कहते रहते हैं! देखिये मैं चाहे जो खा और पचा लेता हूँ, मुझ पर तो कोई प्रभाव नहीं पड़ता। डॉक्टर भी बड़े विनोदी थे, बोले – "हाँ, एक बार मैं गोरखपुर में जा रहा था तो देखा कि एक तालाब में गन्दा जल भरा हुआ है और उसमें भैंस गोते लगा रही हैं और पानी पी रही हैं। भैंस पर तो गन्दे जल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आपकी योनि भी कुछ भिन्न होगी।" बाद में बेचारे निगमजी बड़े अस्वस्थ हुए, क्योंकि शरीर में जब तक शक्ति थी, तब तक चाहे जो भी मनमाने आचरण किया, पर बाद में बड़ी कठिनाई हो गयी। संसार में तो सभी लोग भूखे और प्यासे हैं। शरीर की भूख, शरीर की प्यास, मन तथा बुद्धि की भूख और प्यास, और यह भूख-प्यास कैसे बुझे – यह प्रश्न है व्यक्ति के सामने? संसार के अधिकांश व्यक्ति मन की भूख-प्यास को बुझाने के लिये तो इतने बेचैन हैं कि जो भी मिल जाय, मनोरंजन का जो साधन मिल गया, उसे ही ग्रहण कर लिया। तर्क-वितर्क के लिये कोई भी बात मिल गई, तो उसको ग्रहण कर लिया। पर इससे मन कितना अस्वस्थ होगा, शरीर कितना अस्वस्थ होगा, वह आगे चलकर भविष्य में ज्ञात होता है।

हनुमानजी और प्रतापभानु में यही अन्तर है। प्रतापभानु भी भूखा-प्यासा था और वह कपटमुनि के पास चला गया।

हनुमानजी भी कपटमुनि के पास ही पहुँचे। मुनि तो दोनों ही कपटी थे, पर अन्तर इतना ही था कि हनुमानजी से जब मुनि जी ने कहा कि कमण्डलु का जल पीकर प्यास बुझा लीजिये। कोई हमारी थोड़ी-बहुत छोटी-मोटी कामना पूर्ण कर दे, बस यही सबसे बड़ी वस्तु है। पर हनुमानजी ने कहा – महाराज, मैं क्या करूँ, इतने से तो मेरी प्यास बुझने वाली नहीं है। और हनुमानजी की भूख के विषय में भी आप जानते ही हैं। हनुमान जब श्री किशोरी जी के पास पहुँचे, तो उन्होंने यही कहा – माँ, मैं भूखा ही नहीं, मैं अति भूखा ही नहीं, मैं अतिशय भूखा हूँ। – "क्यों? इतनी लम्बी यात्रा करके आये, क्या कुछ खाने को नहीं मिला?" हनुमानजी ने कहा – "माँ, मैं तो जन्मजात भूखा हूँ। जन्म लेते ही भूख लगी और सूर्य को फल समझकर मैंने मुख में धारण किया।" कोई ज्ञान और प्रकाश के द्वारा अपनी भूख मिटाना चाहे, तो वह कितनी बढ़िया भूख है? क्या हनुमानजी इतने नासमझ थे? क्या आस-पास कोई फल के वृक्ष नहीं थे? उनको छोड़कर सूर्य को ही उन्होंने मुँह में धारण कर लिया? हनुमानजी की मानो ऐसी भूख है कि साधारण फलों से नहीं मिटती है। हनुमानजी का अभिप्राय था कि मैं तो जन्मजात भूखा हूँ और उस समय मैंने भूख मिटाने की चेष्टा की, तो मेरे ऊपर वज्र का प्रहार किया गया। तो माँ, एक तो मैं जन्मजात भूखा और जब मैंने इस यात्रा के लिये प्रस्थान किया, तो समुद्र में जितने मिले, सब खानेवाले ही मिले, खिलाने वाला तो कोई मिला नहीं; सुरसा ने भी कहा, मैं खाऊँगी, सिंहिका ने भी, लंकिनी ने भी यही बात कही। बहुत बड़ा व्यंग्य है। संसार में सब भूखे ही तो हैं और ये एक दूसरे को ही तो खायेंगे। यदि आप जाल में फँसी मछलियों को देखें, तो बड़ा विचित्र दृश्य मिलेगा। जाल में कुछ बड़ी और कुछ छोटी मछलियाँ होती हैं, तो वहाँ भी बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को निगलने की चेष्टा करती हैं। मृत्यु के जाल में पड़ी हुई मछलियों के इस दृश्य का गोस्वामीजी ने 'विनय-पत्रिका' में वर्णन किया है –

एकहि एक खात स्वारथ बस नहिं देखत निज नासा।

मछली स्वयं मरनेवाली है, पर वह इतनी भूखी है कि उस समय भी वह छोटी मछली को निगलने की चेष्टा करती है। यहाँ इस संसार में भी यही हालत है। सब-के-सब भूखे, और बड़े भूखे छोटे भूखों को निगलकर भूख मिटाने की चेष्टा कर रहे हैं। यही समाज का सत्य है, जीवन का सत्य है।

वहाँ हनुमानजी को निगलना उतना आसान नहीं था। सुरसा ने कहा – मैं तुम्हें खाऊँगी, तो हनुमानजी ने कहा – अभी नहीं, बाद में खा लेना। उसने कहा – बाद में नहीं, मैं तो अभी खाऊँगी। तो हनुमानजी इतने बड़े हो गये कि वह निगल नहीं सकी। 'विनय-पत्रिका' में गोस्वामीजी ने कहा – प्रभु, मैं आपको अपनी दीनता सुनाने के लिये आया हूँ। प्रभु ने पूछा – इतने बड़े संसार में क्या मैं ही बचा हुआ हूँ? बोले – महाराज, मैं लोगों के दरवाजे पर गया तो सही, पर मैंने सबको दीन ही देखा है –

जासो दीनता कह्यो हैं देख्यो दीन सोई।।

जब मैं किसी के दरवाजे पर जाकर रोटी माँगता हूँ, तो वह बदले में मुझसे बेटा माँगता है। रोटी ले लीजिये और हमें पुत्र प्राप्त होने का आशीर्वाद दे दीजिये। तो बेचारे सब दीन-हीन ही तो हैं। कहाँ मैं जाऊँ, किसे मैं दीनता सुनाऊँ?

हनुमानजी बोले – मेरी भूख अभी मिटी नहीं है, अब तो जगज्जननी, भक्तिदेवी ही इस भूख को मिटा सकती हैं। और उनकी प्यास भी साधारण नहीं है। तब एक बहुत अच्छी बात आती है। हनुमानजी कमण्डलु का जल पी लेते, तो न जाने उस जल में क्या मिला हुआ है? और यदि उसी से प्यास बुझ गयी होती, तो उसके बाद उन्हें जो सूचना मिली, वह तो सरोवर में जाने पर ही मिली। जब उस नकली मुनि ने देखा कि यह प्यासा तो है, पर इतना उतावला नहीं है, तो बोला कि जल ही नहीं पीना, स्नान भी करके आना। – क्यों महाराज? वह मुनि भगवान की कथा सुनाते हुए बोला, "मैं जानता हूँ, लंका में युद्ध हो रहा है, लक्ष्मणजी को शक्ति लगी हुई है। उनके लिये तुम दवा लेने जा रहे हो। इस युद्ध में राम अवश्य जीतेंगे।" भला बताइये, जो इतना कह दे, उस पर किसको श्रद्धा नहीं होगी। आजकल तो थोड़ी-सी बात सुन लेते हैं, तो कहते हैं – वाह, वाह, ये तो त्रिकालज्ञ हैं, सब कुछ जान गये। चाहे जब जिस किसी को भी त्रिकालज्ञता की उपाधि मिल जाती है। उसने कहा –

होत महारन रावन रामहिं।
जितिहहिं राम न संसय या महिं।।
इहाँ भएँ मैं देखऊँ भाई
ग्यान दृष्टि बल मोहि अधिकाई।। ६/५६/५-६

मैं चाहता हूँ कि तुम्हें भी वह दिव्य दृष्टि मिले। जो हनुमानजी को भी दिव्य दृष्टि देने को तैयार है, कितना साहसी होगा! ये दम्भी लोग बड़े साहसी होते हैं। उसने

हनुमानजी से कहा –जल पी लेना, स्नान भी कर लेना, मुझसे दीक्षा लोगे, तो मुझमें जो चमत्कार है, वही तुममें भी आ जायेगा –

सर मज्जन करि आतुर आवहु ।
दिच्छा देउँ ग्यान जेहिं पावहु ।। ६/५६/८

हनुमानजी मौन रहे। चले गये जल पीया, स्नान किया और तब एक सांकेतिक बात आती है –

सर पैठत कपि पद गहा मकरीं तब अकुलान ।। ६/५७

उस सरोवर में एक मकरी रहती थी, उसने हनुमानजी के पैर को अपने मुँह में पकड़ लिया। यह मगर का स्वभाव होता है, व्यक्ति का पैर पकड़ लेना। उस मकरी ने जब पैर पकड़ लिया और हनुमानजी ने ज्योंही देखा, तो उसे मारने चले। मकरी ने पूछा – महाराज, चरण पकड़ने पर आशीर्वाद दिया जाता है और आप तो मुझे मार रहे हैं? हनुमानजी बोले – जो श्रद्धापूर्वक चरण पकड़े, उसी को आशीर्वाद दिया जाता है और जो खाने के लिये चरण पकड़े, उसको मारा जायेगा या आशीर्वाद दिया जायेगा? वह बोली – महाराज, जैसे मैं खाने के लिये चरण पकड़ रही हूँ, वैसे ही वह राक्षस भी बाहर बैठा हुआ है। ध्यान रखियेगा, उसकी क्रिया तो महात्माओं जैसी दीख रही है, पर वह है पक्का कालनेमि। हनुमानजी आकर उसका वध कर देते हैं।

सीताजी भी प्रारम्भ में रावण को नहीं पहचान पातीं, या हनुमानजी भी प्रारम्भ में कालनेमि को नहीं पहचान पाते, तो इसका तात्पर्य यह है कि यह दम्भ सचमुच इतना विलक्षण है कि इसको पहचानना सरल नहीं है। और इसीलिये दम्भ अत्यन्त घातक है। यदि किसी को कोई रोग हुआ है और वह व्यक्ति डाक्टर या वैद्य को बताकर दवा लेगा, तो रोग दूर हो जायेगा। पर यदि वह अपने रोग को छिपायेगा, तब क्या होगा? उसका रोग तो बढ़ेगा ही और इसके साथ ही यदि उसके शरीर में कोई संक्रामक जीवाणु हैं, वह दूसरों को यह दिखाने की चेष्टा करें कि मैं तो बिल्कुल स्वस्थ हूँ और वह जल पिलाने लगे; तो स्वयं तो उसमें रोग है ही, वही रोग दूसरे में भी पैठायेगा।

वस्तुत: प्रतापभानु कितना बड़ा दम्भी बन गया था ! वह दिखावा करता था कि समाज में कोई व्यक्ति यह न मान ले कि यह राजा भी सकाम है, यह ज्ञानी नहीं है, भक्त नहीं है; इसीलिये उसने ऐसा अभिनय किया कि बड़े-बड़े मुनियों ने भी कहा कि यह तो महान ज्ञानी है, महान भक्त है। यह जो दम्भ है, इसकी धर्म के साथ जुड़ने की खूब सम्भावना है। यह दम्भ बड़ी सरलता से धार्मिक व्यक्तियों के जीवन में पैठ जाता है। यही दम्भ प्रतापभानु के जीवन में भी दिखाई देता है । यहाँ सूत्र यह है कि आप स्वयं को ऐसा बताने और दिखाने की चेष्टा मत कीजिये, जो आप नहीं हैं। यदि आप सकाम हैं, तो क्या बुरा है। निष्काम होना बहुत अच्छा है, लेकिन एक नन्हा बच्चा यदि अपनी माँ से मिठाई न माँगे, भोजन न माँगे और माँ के इधर-उधर जाते ही चुराकर खाने की चेष्टा करे, तो यह बुद्धिहीनता की बात है। निष्कामता और समर्पण चाहे जितना भी ऊँचा हो, पर ऊँचा कहलाने के लिये उसका नाटक करने की क्या आवश्यकता है !

मुझे ब्रह्मलीन स्वामी श्री अखण्डानन्द जी सरस्वती का स्मरण आता है। वे जबलपुर में पधारे हुए थे। मैं भी वहाँ गया था। मेरी दस वर्ष की छोटी अवस्था थी। एक सज्जन आये और प्रणाम करके बोले – महाराज, मैं अपने स्वयं को, अपने जीवन को आपके चरणों में समर्पित करता हूँ। महाराज ने सुना, पर कुछ बोले नहीं। वह व्यक्ति दो घण्टे बैठा रहा। अन्त में कहा – महाराज, आप कुछ बोले नहीं। उन्होंने कहा – जब आपने समर्पण ही कर दिया है, तो जल्दी क्या है; जब चाहूँगा, बोल दूँगा। समर्पण क्या दो ही घण्टे के लिये था? तात्पर्य यह कि आप समर्पण शब्द को इतना सरल समझते हैं क्या कि बड़े जल्दी समर्पण कर दिया। बड़ी जल्दी निष्काम हो गये। यह दम्भ प्रतापभानु के जीवन में आया। यह दूसरी समस्या है। सबके सामने तो वह जैसा था, वैसा था; पर आगे चलकर कपटमुनि के सामने उसका दम्भ, उसकी वास्तविकता प्रगट हो गई। (क्रमशः)

पूजा है श्रीराम की

पुरुषोत्तम नेमा

पूरी शक्ति लगाकर टालें, चढ़ा क्रोध यदि टाल सकें ।
ढाले पनघट के हर घट में, प्रेम अगर हम ढाल सकें ।।
रूप बहुत हैं, नाम बहुत हैं, फिर सभी के काम बहुत हैं ।
कैसे तुम्हें चार बतलायें, अपने प्रभु के धाम बहुत हैं ।।
बीसों बातें वस्तु अनेकों, एक बात बस काम की ।
जग हितकारी क्रिया कोई हो, पूजा है श्रीराम की ।।

विकास ही जीवन है

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए । प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है । – सं.)

विकास जीवन का नियम है; बल्कि स्वामी विवेकानन्द तो विकास को ही जीवन कहते हैं तथा संकोच को मृत्यु । विकास की प्रक्रिया ही जीवन के स्पन्दन को बनाये रखती है । यह प्रक्रिया तीन प्रकार के संघर्षों के बीच से गुजरा करती है । हर मनुष्य को अपने जीवन में ये विविध संघर्ष झेलने पड़ते हैं - एक है मनुष्य का प्रकृति के साथ संघर्ष, दूसरा है उसका मनुष्य के साथ संघर्ष और तीसरा है उसका अपने साथ संघर्ष । पहले संघर्ष से सफलतापूर्वक जूझने के लिए भौतिक विज्ञान हमारा सहायक होता है, दूसरे प्रकार के संघर्ष में विजयी होने के लिए हम समाज-विज्ञान से मदद लेते हैं और तीसरे प्रकार के संघर्ष में जयी होने के लिए मनोविज्ञान, धर्मविज्ञान और अध्यात्मविज्ञान से सहायता ले सकते हैं। इन तीनों विज्ञानों का उचित सन्तुलन और समन्वय हमारी विकास-प्रक्रिया को द्रुत कर देता है ।

विकास के तीन स्तर होते हैं । प्रसिद्ध जीवविज्ञानी जूलियन हक्सले के मतानुसार ये हैं – Physical, Mental or Intellectual तथा Psycho-social अर्थात् शारीरिक, मानसिक या बौद्धिक तथा मनो-सामाजिक । शारीरिक विकास की बात हम समझते हैं । जब बच्चा जन्म लेता है तब उसकी ऊँचाई लगभग १५ इंच होती है और वजन ३ किलोग्राम । वही जब ४० वर्ष का प्रौढ़ हो जाता है, तो ऊँचाई शायद ६ फुट हो जाती है और वजन ८० किलोग्राम । यह शारीरिक विकास है । वैसे ही मानसिक या बौद्धिक विकास भी बोधगम्य है । शिशु जब धीरे-धीरे शैशवावस्था पार करके कैशोर्य और यौवन में पहुँचता है, उसका मानसिक और बौद्धिक विकास भी साथ-साथ सधता दिखाई देता है । यदि शारीरिक विकास तो हो, पर मानसिक विकास न हो, तो हम बालक को असामान्य कहते हैं और उसकी चिकित्सा कराते हैं ।

अतएव मानसिक और बौद्धिक विकास भी हमें समझ में आता है । पर विकास का जो तीसरा स्तर मनो-सामाजिक कहकर पुकारा गया है, उसकी धारणा सामान्यत: हमें नहीं होती । हक्सले कहते हैं कि तीसरा स्तर ही मनुष्य को पशु से भिन्न बनाता है । पशु में शारीरिक और मानसिक विकास के स्तर होते हैं, पर मनो-सामाजिक विकास केवल मनुष्य का गुण है । विकास के इस तीसरे स्तर को यों समझे –

एक छोटा लड़का केवल अपने लिए जीता है, उसे माता-पिता, भाई-बहिन किसी की परवाह नहीं होती । उसे अपनी सुविधा, अपना सुख चाहिए । वह पाठशाला से लौटा । देखा - माँ खाट पर पड़ी हुई है । रोज उसके लौटते ही माँ उसे भोजन कराती थी । आज उसे लेटे देखकर वह बस्ता फेंकते हुए कहता है, "माँ, उठो न, चलो खाना दो ।" माँ यदि कह दे, "बेटा, मुझे बुखार है, अंग-अंग टूट रहा है, उठा नहीं जा रहा है, तू वहाँ से खाने की चीजें निकाल ले", तो वह हाथ-पैर पटक कर, मचल कर रोता है कि "उठो, खाना दो ।" तब तक वह चिल्लाता रहेगा, जब तक माँ उठकर नहीं देगी । यह बच्चा केवल अपने लिए जीता है, दूसरे का दु:ख-दर्द उसके स्वार्थ के आगे कोई माने नहीं रखता । पर यही लड़का जब कुछ बड़ा होता है और एक दिन विद्यालय से लौटने पर माँ को खाट में पड़े देखता है, तो वह माँ के माथे पर हाथ लगाकर देखता है कि बुखार तो नहीं है । पूछता है, "माँ, कैसी हो?" और माँ उसे खाना देने के लिए उठना चाहे तो मना करता है । कहता है, "लेटी रहो, मुझे बता दो मैं सब कर लूँगा, मैं खाना भी बना लूँगा ।" वह डाक्टर के यहाँ से दवा ले आता है, माँ का शरीर दबा देता है । माँ का दु:ख-दर्द अब उसका स्वयं का दु:ख-दर्द बन गया । यही मनो-सामाजिक विकास है । हम कहते हैं कि लड़के का मनो-सामाजिक विकास हुआ है । यह विकास हमें स्वार्थ के घेरे से ऊपर उठाता है और दूसरे की पीड़ा का अनुभव करने में हमें समर्थ बनाता है । हक्सले इस तीसरे विकास से युक्त व्यक्ति को Person यानि व्यक्ति कहते हैं । जिसमें मनो-सामाजिक विकास नहीं हुआ है, वह मात्र Individual यानि व्यष्टि है । वे Person और Individual का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते हैं, "Persons are individuals who transcend their merely organic individuality in conscious participation." – अर्थात् व्यक्ति वे व्यष्टि हैं, जो समूह में ज्ञानपूर्वक भाग लेते हुए मात्र अपने जैविक व्यक्तित्व को लाँघ जाते हैं ।

विकास का यह तीसरा स्तर मनुष्य की मनो-सामाजिकता का संवर्धन करता हुआ उसे सही अर्थों में 'मानव' बना देता है तथा उसे दूसरों के लिए जीने की मानसिकता और क्षमता प्रदान करता है । ❑

सारगाछी की स्मृतियाँ (२२)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुये वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और ब्रह्मचारी बोधमय चैतन्य ने किया है, जिसे विवेक ज्योति के पृष्ठों में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं)

१८-५-१९६०

प्रश्न – उस दिन आप कह रहे थे कि दैव, पुरुषार्थ और काल एक साथ चलते हैं। जिसका पुरुषार्थ नहीं है, उसका कैसे होगा?

महाराज – दैव, पुरुषार्थ और काल तीनों की ही आवश्यकता है। किन्तु तुम्हारा जितना ही अधिक पुरुषार्थ बढ़ेगा, उतना ही तुम्हारा समय सामने आता जायेगा। उसके साथ-ही-साथ दैव भी प्रतिक्षण अनुकूलतर होंगे। परन्तु, एक बात है, जब तक तुम्हारा पुरुषार्थ है, तब तक के लिये ही यह बात है। जब तुम पुरुषार्थ के अतीत हो जाओगो, जैसे मैं हूँ, अब मैं पुरुषार्थ नहीं दिखा सकता हूँ। अभी मुझे केवल दैव और समय पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

दोपहर में 'मायेर कथा' (माँ की बातें) नामक पुस्तक का पाठ हो रहा है। उसमें एक जगह लिखा है कि माँ रासबिहारी महाराज को कह रही हैं – ''बेटा, तुम लोग देव-दुर्लभ सम्पत्ति हो।''

महाराज – होगें नहीं ! वीर्यवान हैं ! यह क्या कम बात है ! सम्पूर्ण जगत् - ब्रह्मा से क्षुद्र कीड़े तक, सभी प्रेय के पीछे दौड़ रहे हैं। सारी सृष्टि इसी को लेकर ही है। संन्यासी इसके विपरीत श्रेय की दिशा में चल रहे हैं, क्या वे लोग कम हैं?

प्रश्न – वर्तमान समाज में जो वर्ण-संस्कार हो रहा है, ब्राह्मण-वैश्य में विवाह हो रहा है, इससे क्या भला होगा?

महाराज – अवश्य ही। पहले समाज एक संयुक्त इकाई था। अब फिर से सभी एक होने चले हैं। जब मैं पहली बार 'हरिजन' शब्द सुना, तो अच्छा नहीं लगा था। हमलोग गाँधीजी को बहुत श्रद्धा करते हैं। किन्तु इससे लाभ क्या हुआ? मेहतर नाम था, हरिजन हुआ। क्या उससे उन लोगों का कुछ विकास हुआ? धीरे-धीरे उन लोगों में सभ्यता-संस्कार डालकर उन्हें उन्नत करना चाहिये।

प्रश्न – क्या आवश्यक होने पर ठाकुरजी की वेदी हटायी जा सकती है?

महाराज – क्यों नहीं हटायी जा सकती है ! वैसी आवश्यकता होने पर निश्चय ही वेदी स्थानान्तरित की जा सकती है। हमलोग तो ठाकुर जी को मानव के समान समझते हैं।

प्रश्न – किन्तु ठाकुर जी की आवश्यकता नहीं होने से, क्या हमलोगों के प्रयोजन से वेदी हटायी जा सकती है?

महाराज – क्यों, स्वामी विज्ञानानन्द महाराज जी तो मठ के पुराने मंदिर की वेदी से आत्माराम का डिब्बा बड़े मंदिर में लेकर आये थे। तो क्या पुराने मन्दिर का त्याग कर देगा? देखते हो न ! बेलूड़ मठ में उसे अक्षुण्ण रखा गया है। जहाँ पर इतने दिन ठाकुरजी रहे, उनकी एक स्मृति है तो।

प्रश्न – तो क्या पुरानी वेदी में भी उनकी पूजा होगी?

महाराज – नहीं, पूजा की आवश्यकता नहीं है। देखो, यहाँ ठाकुरजी का एक पूजित चित्र दीवाल में लटकाकर रखा था। मैं तो आश्चर्यचकित हो गया ! इतने दिनों तक उनकी जीवन्त रूप में पूजा कर, अभी चित्र के समान जैसे दीवाल में लटकाकर रखा है ! मेरे घर में ठीक मनुष्य-भाव से गोविन्दजी की पूजा होती थी। माँ ने गोविन्दजी को प्रणाम करके उनकी मुख की ओर दृष्टि डालते ही देखा कि गोविन्दजी का मुख काला है। उसके बाद ही मेरी दीदी की मृत्यु हो गयी। उसके बाद ढाका में एक संन्यासी ने ठाकुरजी के लिये चाँदी का सिंहासन बनवाया था ! एक आदमी ठाकुरजी के बगल में सोने की बाँसुरी रखा था ! वह नहीं जानता था कि वे धातु का स्पर्श नहीं कर पाते थे ! कहाँ पर तो चाँदी का कोश-कुशी बनवाया है !

वैष्णव-सम्प्रदाय में मुक्ति अनिच्छित है। (वे लोग सोचते हैं) ऐसा मनुष्य-जन्म प्राप्त करके कृष्ण-प्रेम का आस्वादन करने का सुअवसर नहीं मिला ! वहाँ मोक्ष तुच्छ, हीन है।

जो माँ की संतान हैं, उन्हें अपने जीवन के आचरण से दिखाना होगा तो ! तुम सोचते हो कि श्रीरामकृष्ण के नाम पर जो कुछ भी करते जाओगे और उससे तुम्हारे ठाकुर जी प्रसन्न होंगे? यहाँ तुम जैसा कर्म करोगे, सबका फल मिलेगा ही । प्रकृति (Vindictive) प्रतिक्रियात्मक, प्रतिशोधात्मक होती है । वृद्ध-वृद्ध साधुओं के नाम कट जाने से वे संघ से निकल जा रहे हैं । ध्यान नहीं है !

हमलोग तो हमेशा ध्यान नहीं कर सकते हैं । इसीलिये तो स्वयं का विस्तार करके प्रत्येक प्राणी की ईश्वर-भाव से सेवा करते हैं । तुम लोग मंदिर में जिस श्रीरामकृष्ण को फूल चढ़ाते हो, वही श्रीरामकृष्ण बच्चों का रूप लेकर तुम्हारी सेवा चाहते हैं। एक व्यक्ति ने मेरी इस बात को सुनकर आनन्द से उछल कर कहा – ईश्वर भाव से बच्चों की सेवा !

२०-५-१९६०

एक ब्रह्मचारी बड़े उत्साह के साथ देश का, ग्राम का क्या आर्थिक विकास हुआ है, वही बातें बता रहे हैं । उसे सुनकर प्रेमेशानन्द महाराज ने कहा – "जो हो सो हो, हमें यह देखना है कि भाव-भक्ति है कि नहीं, हमारी बुद्धि ईश्वर-परायण हो रही है कि नहीं !"

प्रश्न – 'श्रीमाँ अवतार हैं, क्या आपलोग इसे समझ गये थे ?

महाराज – नहीं समझा था । माँ अवतार हैं, इसे समझ लेने से तो हो ही गया । हाँ, लेकिन जाना था कि वे (श्रीरामकृष्णदेव) अवतार हैं, और जब श्रीरामकृष्णदेव की पत्नी हैं, तब तो कुछ विशेष होंगी ही। मानव रूप ग्रहण करने पर अवतार मानना बहुत कठिन है। सैद्धान्तिक रूप से मैं बहुत कहता था, किन्तु अभिव्यक्त नहीं हुआ । फिर भी दीक्षा लिया । जब सभी लोग अवतार बोल रहे हैं, तो होंगी ही, ऐसा विश्वास था । एक पेड़ को, पत्थर को हमलोग इसी भाव से प्रणाम करते हैं । जब हमलोग काशी में विश्वनाथ जी का दर्शन करते हैं, तब क्या हमलोग विश्वनाथ जी को देखते हैं? हमलोग तो एक पत्थर को ही प्रणाम करते हैं, क्योंकि सभी लोग कर रहे हैं ।

प्रश्न – यदि राधू दीदी और पगली मामी नहीं होतीं, तो माँ के अपने मुख से निज स्वरूप की बातें नहीं जानी जा सकती थीं ।

महाराज – वे (श्रीमाँ) उन्हें साथ में लेकर आयी थीं । वे सब योगमाया हैं ।

प्रश्न – राधू दीदी योगमाया थीं, ऐसा ठाकुरजी ने कहा है। अर्थात् श्रीमाँ की माया, किन्तु उन्होंने इतना विरुद्ध आचरण किया है कि इस पर विश्वास करने की इच्छा नहीं होती ।

महाराज – Antagonist – विरुद्धात्मक आचरण तो होगा ही । श्रीमाँ का मन हू-हू करके ऊपर उठता चला जा रहा है और उन लोगों ने अनेकों अत्याचार करके उनके मन को नीचे उतार कर रखा है । प्रतिकूलता के कारण ही तो श्रीमाँ नीचे की भाव-भूमि में थीं । अनुकूल होने से तो श्रीमाँ को ही नहीं पाता।

प्रश्न – चैतन्य वस्तु जो सर्वत्र व्याप्त है, उसका क्या प्रमाण है?

महाराज – प्रमाण? इस अमरूद के वृक्ष को देखो। तुमने क्या देखा ?

उत्तर – क्यों, वृक्ष देखा ।

महाराज – देखा नहीं कि कैसे टेढ़े-मेढ़े आम के पेड़ की डाली को पार कर आकाश की ओर मुख करके देख रहा है। इस जामुन के पेड़ को देखो, कैसे झुक गया है, जिससे प्रकाश प्राप्त कर सके । शास्त्र में उल्लेख मिलता है – "**अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुख-दुख समन्विताः**" – तुम्हारे-हमारे जैसा सुख-दुख का अनुभव कर रहा है । वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु ने इसे परीक्षण करके सिद्ध कर दिया है । वही चैतन्य वस्तु सबमें है । पेड़, चिट्टी, कीड़े-मकोड़े, तुम, मैं सभी लोग 'मैं मैं' कर रहे हैं । जैसे तार में बिजली है, लेकिन, समझ में नहीं आती । किसी वस्तु के साथ संघर्ष होने से ही समझ में आती है । चैतन्य वस्तु का प्रकाश है चेतना । ❖(क्रमशः)❖

निष्काम कर्म का उद्देश्य

निष्काम कर्म एक उपाय है – उद्देश्य नहीं, जीवन का उद्देश्य है ईश्वर-प्राप्ति । कर्म आदिकाण्ड है – वह उद्देश्य नहीं हो सकता । कर्म को जीवन का सर्वस्व मत समझो । ईश्वर से भक्ति के लिए प्रार्थना करो । ... जब तक भगवान के दर्शन नहीं होते । एक बार उनके दर्शन हो जाएँ तो ये सब स्वप्नवत्, अनित्य असार लगने लगते हैं । तब साधक उनसे केवल ज्ञान और भक्ति की ही प्रार्थना करता है ।

– श्रीरामकृष्ण

स्वामी विवेकानन्द की कथाएँ और दृष्टान्त

(स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में दृष्टान्त आदि के रूप में बहुत-सी कथा-कहानियों तथा दृष्टान्तों का वर्णन किया है, जो १० खण्डों में प्रकाशित 'विवेकानन्द साहित्य' तथा अन्य ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं। उन्हीं का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है, जिसका संकलन स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

३२. अपने इष्टदेवता के प्रति निष्ठा आवश्यक है

श्रीराम के महान् भक्त हनुमानजी की कथा आती है। जैसे ईसाई लोग ईश्वर के अवतार के रूप में ईसा की पूजा करते हैं, वैसे ही हिन्दू लोग भी ईश्वर के अनेक अवतारों की पूजा करते हैं। उनके मतानुसार भारत में ईश्वर ने अनेकों बार अवतार लिये और एक बार वे पुन: आयेंगे। जब उन्होंने राम के रूप में अवतार लिया, उस समय हनुमानजी उनके महान उपासक के रूप में आये थे। वे एक महान् योगी थे और दीर्घ काल तक जीवित रहे।

श्रीराम ने एक बार फिर श्रीकृष्ण के रूप में अवतार लिया। हनुमानजी एक महान् योगी थे, अत: उन्हें पता था कि भगवान एक बार फिर श्रीकृष्ण के रूप में आये हैं। वे उनसे मिलने आये, उनकी सेवा की, परन्तु बोले, "मैं आपका वही राम-रूप देखने का इच्छुक हूँ।" श्रीकृष्ण बोले, "यह रूप क्या यथेष्ट नहीं है? मैं ही कृष्ण हूँ और मैं ही राम हूँ – सारे रूप मेरे ही हैं।" हनुमान ने कहा, "मैं जानता हूँ, तथापि मुझे तो राम-रूप ही चाहिये। जानकीजी के पति और श्री (लक्ष्मीजी या राधाजी) के पति – दोनों एक हैं। दोनों एक ही परमात्मा के अवतार हैं। तथापि कमल-लोचन श्रीराम ही मेरे सर्वस्व हैं।" इसी को निष्ठा कहते हैं, सभी तरह की उपासनाओं को सत्य मानते हुए भी, अन्य उपासनाओं को छोड़कर अपनी उपासना में दृढ़ रहना। हमें दूसरों की बिल्कुल भी उपासना नहीं करनी है; तथापि हमें उन सभी के प्रति द्वेष या निन्दा का भाव नहीं, अपितु सम्मान का भाव रखना होगा। (CW, 9:223-24)

३३. एक स्थिर आदर्श की आवश्यकता है

अनेक लोग 'धार्मिक उदारता' के नाम पर, अपने निरर्थक कुतूहलों के निवारण हेतु, बारम्बार अपने इष्टदेवता या उपासना को बदलते रहते हैं। उनके लिये सदा नयी-नयी बातें सुनना एक रोग या एक नशे जैसा हो जाता है। वे क्षणिक स्नायविक उत्तेजना के लिए ही नयी-नयी बातें सुनना चाहते हैं; और जब ऐसी उत्तेजना देनेवाली एक बात का असर उनके मन से उतर जाता है, तो वे दूसरी बात सुनने को तैयार हो जाते हैं। इन लोगों के लिए धर्म एक प्रकार से अफीम के नशे के समान है; और वहीं इसकी परिसमाप्ति हो जाती है। भगवान श्रीरामकृष्ण ने बताया था, "एक अन्य तरह के लोग भी हैं, जिनकी तुलना सीपी से की जा सकती है। सीपी समुद्र के तल को छोड़कर स्वाति नक्षत्र के जल की एक बूँद पाने के लिए ऊपर आ जाती है। यह मुँह खोले हुए सतह पर तैरती रहती है और ज्योंही उसे उस नक्षत्र में बरसे हुए जल का एक बूँद मिल जाता है, त्योंही सीधे डुबकी लगाकर समुद्र की तलहटी में चली जाती है; और जब तक वह उस बूँद से एक सुन्दर मोती का निर्माण नहीं कर लेती, तब तक वहीं विश्राम करती रहती है।" (४/३६)

३४. आत्मविश्वास की शक्ति

न्यूयार्क में मैं आइरिश उपनिवेशवासी को आते हुए देखा करता था – पददलित, निस्तेज, असहाय, अति निर्धन और अशिक्षित; साथ में एक लाठी और उसके सिरे पर लटकती हुई फटे कपड़ों की एक छोटी-सी गठरी। उसकी चाल में भय और आँखों में शंका होती थी। छह महीने के बाद यही दृश्य बिल्कुल बदल जाता। अब वह तनकर चलता था, उसका वेश बदल गया था, उसकी चाल और चितवन में पहले का वह डर दिखायी नहीं पड़ता। ऐसा क्यों हुआ?

हमारा वेदान्त कहता है कि वह आइरिश अपने देश में चारों ओर घृणा से घिरा हुआ रहता था – सारी प्रकृति एक स्वर से उससे कह रही थी कि 'बच्चू' तेरे लिए कोई आशा नहीं है; आजन्म सुनते-सुनते बच्चू को उसी का विश्वास हो गया। बच्चू ने अपने को सम्मोहित कर डाला कि वह अति नीच है। इससे उसका ब्रह्मभाव संकुचित हो गया। परन्तु जब उसने अमेरिका में पैर रखा, तो चारों ओर से ध्वनि उठी, "बच्चू, तू भी वही आदमी है, जो हम लोग हैं। आदमियों ने ही सब काम किये हैं; तेरे और मेरे समान आदमी ही सब कुछ कर सकते हैं। धीरज धर।" बच्चू ने सिर उठाया और देखा कि बात तो ठीक ही है – बस, उसके अन्दर सोया हुआ ब्रह्म जाग उठा; मानो स्वयं प्रकृति ने ही उससे कहा हो, "उठो, जागो और जब तक लक्ष्य पर न पहुँच जाओ, रुको मत।" (६/३११-१२)

❖ (क्रमश:) ❖

माँ की मधुर स्मृतियाँ – १२९

विभिन्न रूपों में श्रीमाँ

आशुतोष मित्र

१९४४ ई. के नवम्बर में प्रकाशित लेखक के 'श्रीमाँ' नामक पुस्तक के प्रथम तीन अध्याय हम २००६ के अंकों में प्रकाशित कर चुके हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' के खण्ड २ से इस अंश का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(५१) मठ से वृद्ध गोलाप-दादा एक दिन माँ को प्रणाम करने के बाद प्रसाद पाते हुए उनसे पूछ बैठे – पैर का वात-रोग कैसा है? माँ ने कहा, "अब वह इस ढाँचे में ठीक नहीं होगा – मेरा संगी हो गया है। तुम कैसे हो?" गोपाल-दादा बोले, "वात मुझे भी बड़ा कष्ट देता है, तो भी बड़ा परिश्रम करता हूँ। लड़कों में से कोई देखता नहीं। तो भी मठ की जमीन में जो भी हो सकता है, थोड़ी साग-सब्जी उपजाता हूँ – भिंडी, बैंगन, केले हो रहे हैं – सब्जियाँ ज्यादा नहीं खरीदनी पड़तीं। तुम्हारे यहाँ भी बीच-बीच में भिजवा देता हूँ।" माँ ने कहा, "हाँ बेटा, तुम पुराने जमाने के आदमी हो – तुम इन बच्चों की तरह तो रह नहीं सकोगे। मठ भी एक संसार है – खाना-पीना है – तुम भला कैसे रह सकोगे? वही (बागान) देखते रहो।"

(५२) माँ को सन्तरा डालकर बना हुआ खीर बड़ा पसन्द था, इसलिए योगीन-माँ कभी-कभी उसे अपने हाथ से बनाकर ले आतीं। एक बार उनके वैसा ही खीर बनाकर लाने पर माँ उसे हम लोगों को खिलाने आयीं। हमने कहा, "माँ, यह आपको पसन्द है इसीलिए तो योगीन-माँ ने आपको दिया है – आप खाइये।" उन्होंने स्नेहपूर्ण स्वर में कहा, "पसन्द है, इसीलिए तो तुम लोगों को खिला रही हूँ। क्या मैं तुम लोगों को खिलाये बिना खा सकती हूँ?" तो भी हमारी जिद पर उन्होंने स्वयं भी खाया और हमें भी खिलाया।

(५३) भगिनी निवेदिता और भगिनी क्रिस्टिन प्राय: हर रोज संध्या के बाद माँ के पास आतीं। निवेदिता कामचलाऊ बँगला बोल लेती थीं, पर क्रिस्टिन केवल दो-चार बातें ही सीखी थी, तो भी थोड़ा-थोड़ा समझ लेती थी। जब क्रिस्टिन अकेली आती, तो मुझे ही उनके दुभाषिये का काम करना पड़ता। एक दिन दोनों एक साथ आयी थीं। निवेदिता ने ऊपर जाकर माँ से कहा, "ओ मातृदेवी, आप हम लोगों की काली हैं।" क्रिस्टिन ने भी निवेदिता की बात को समझकर कहा, "O ! Holy Mother is our Kali – yes." माँ हँसते हुए बोलीं, "नहीं बाबा, मैं तो काली-वाली नहीं हो सकूँगी। नहीं तो मुझे जीभ बाहर निकाल कर खड़े रहना होगा।" माँ का उत्तर न समझने के कारण दोनों मेरी ओर देखने लगीं। मेरे समझा देने पर दोनों ने कहा, "We shall look upon Her as our Kali, for Sri Ramakrishna is our Shiva." (माँ को इतना कष्ट नहीं उठना पड़ेगा – हम लोग उन्हें काली रूप में देखेंगी, क्योंकि श्रीरामकृष्ण हमारे शिव हैं।) माँ से यह बताने पर उन्होंने हँसते हुए कहा, "तब तो देखा जायेगा।" उन लोगों को समझाने पर उन्होंने पूछा, "She admits?" (वे मानती हैं?) मैंने कहा, "हाँ, एक तरह से हैं।" तब वे "Then let us take the dust of Your Holy Feet." (तब तो हमें आपके चरणों की धूलि लेनी चाहिये) – इतना कहकर उन्होंने वैसा ही किया और लौट गयीं।

(५४) अन्नपूर्णा की माँ एक युवती को साथ लिये माँ के पास आयीं। युवती की ओर इशारा करते हुए उन्होंने शिकायत की – इसका पति इसे ले नहीं जाता है – साधु होने की धमकी देता है। अत: माँ उसे समझा-बुझाकर गृही बना दें। उत्तर में माँ बोलीं, "यदि उसे सचमुच ही वैराग्य हुआ हो, तो फिर मैं यह बात उसे कैसे कह सकती हूँ?" अन्नपूर्णा की माँ हठ करने लगीं। उसी समय युवती ने माँ के दोनों चरण पकड़ लिये और विनती करने लगी। माँ हँसकर बोली, "अच्छा, उसके आने पर देखूँगी। तथापि यदि उसे वैराग्य हुआ, तो मैं कह नहीं सकूँगी, बेटी।" ❖ **(क्रमश:)** ❖

स्वामी ब्रह्मानन्द के संस्मरण

स्वामी अशेषानन्द

(भगवान श्रीरामकृष्ण के एक प्रधान शिष्य तथा रामकृष्ण मठ-मिशन के प्रथम संघाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्दजी आध्यात्मिक भावों के एक अपूर्व ज्योतिपुंज थे। उनके बारे में ये संस्मरण हॉलीवुड (अमेरिका) से प्रकाशित होनेवाली अंग्रेजी द्विमासिक पत्रिका 'वेदान्त एंड द वेस्ट' के तथा Glimpses of a Great Soul नामक ग्रन्थ से संकलित हुए हैं। इसका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्दजी ने। – सं.)

४ जुलाई, १९०२ ई. को स्वामी विवेकानन्द का देहावसान हुआ। तदुपरान्त स्वामी ब्रह्मानन्द मठ और मिशन के अध्यक्ष हुए। एक वरिष्ठ संन्यासी ने उनके विषय में कहा था, ''श्रीरामकृष्ण स्वामी विवेकानन्द को सारे जगत् के लिये लाये थे, और महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) को स्वयं अपने लिये। परन्तु संघ में आये हुए हम नवीन साधु-ब्रह्मचारियों को ऐसा लगा कि महाराज को हमारे लिये भी लाया गया था। उन्हीं से मुझे 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' के अनुरूप त्याग का जीवन बिताने की प्रेरणा मिली और उन्हीं से मुझे अन्य अनेक लोगों के समान ही ब्रह्मचर्य-व्रत की दीक्षा भी मिली थी।

१९२२ ई. का साल मेरे जीवन का एक स्मरणीय साल है। इसी वर्ष श्रीरामकृष्ण देव की जन्मतिथि पर महाराज ने मुझे ब्रह्मचर्य की दीक्षा प्रदान की थी। उन दिनों मैं महाराज के गुरुभाई स्वामी सारदानन्द के सेवक के रूप में उद्बोधन कार्यालय, जिसे 'मायेर बाड़ी' (माँ का घर) भी कहते हैं, में रह रहा था। उनकी अनुमति लेकर मैं कुछ दिन रहने के लिए बेलूड़ मठ गया। जब मैं वहाँ पहुँचा, तो महाराज स्वामीजी के पुराने कमरे के निकट गंगा की ओर के बरामदे में एक आरामकुर्सी पर बैठे हुए थे। वे निकट बैठे कुछ युवा संन्यासियों तथा मेरे ही समान ब्रह्मचर्य के प्रत्याशी दो युवकों के साथ आराम की मुद्रा में गपशप कर रहे थे। मैंने उन्हें प्रणाम करने के बाद कहा, ''महाराज, मैं आपकी कृपा पाने आया हूँ। यदि आप कृपा करके ठाकुर की तिथिपूजा पर मुझे ब्रह्मचर्य-व्रत की दीक्षा दें, तो मैं सदा आपका आभार मानूँगा।''

महाराज क्षण भर मौन रहने के बाद बोले, ''हाँ, मैं तैयार हूँ, परन्तु एक शर्त है। गुरु-दक्षिणा के रूप में तुम्हें १०८ रुपये अग्रिम देने होंगे, अन्यथा मैं तुम्हें दीक्षा न दे सकूँगा।''

सुनकर मैं भौचक्का होकर बोला, ''महाराज, मेरे पास तो पैसे नहीं हैं। इतनी बड़ी रकम देना मेरे लिए असम्भव है। यदि आप मुझ पर कृपा न करें, तो मेरा जीवन वृथा हो जायेगा।''

महाराज ने कहा, ''तुम्हारी समस्या के लिए मेरे पास एक सुझाव है। उद्बोधन में स्वामी सारदानन्द के पास काफी धन है। तुम उनके सेवक हो, अत: तुम स्वामी सारदानन्द के पास जाकर उन्हें अपने लिए यह राशि अदा करने को कहो।''

मैं अभी वहाँ मौन खड़ा ही था कि महाराज ने एक अन्य प्रत्याशी को बुलाकर कहा, ''गोविन्द, तो तुम मिदनापुर से आ रहे हो। तुम्हें मेरे समक्ष उड़ीसा पद्धति का नृत्य करके दिखाना होगा। यदि तुम इसे ठीक-ठीक कर सके, तो तुम्हें ब्रह्मचर्य की दीक्षा मिल जाएगी।'' गोविन्द ने बिना किसी संकोच के हाथों में उपयुक्त हाव-भाव के साथ वह नृत्य करके दिखाया, जिसका हम सबने आनन्द लिया। महाराज उनके प्रदर्शन पर काफी प्रसन्न हुए और खूब हँसे।

मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो उद्बोधन लौट आया और सारी घटना बड़ी गम्भीरतापूर्वक स्वामी सारदानन्द को कह सुनायी। उन्होंने भी गम्भीरतापूर्वक सिर हिलाते हुए कहा, ''तुम पुन: बेलूड़ मठ जाकर महाराज से कहो कि मैं उन्हीं का हूँ और उद्बोधन की सारी चीजें भी उन्हीं की हैं। वे जो कुछ भी चाहते हैं, दे दिया जायेगा।''

मैं निश्चिन्त होकर तुरन्त बेलूड़ मठ को लौटा और महाराज को प्रणाम करके उन्हें स्वामी सारदानन्द का सन्देश कह सुनाया। परन्तु मेरे विस्मय और निराशा की सीमा न रही, जब महाराज ने अस्वीकृति में सिर हिलाते हुए कठोर शब्दों में कहा, ''ये तो थोथे शब्द मात्र हैं! जब तक मुझे लिखित रूप में नहीं मिल जाता, तब तक मैं कैसे विश्वास करूँ कि वे अपना वादा पूरा करेंगे ही? तुम उनके निजी सचिव हो, अत: तुम एक वचनपत्र का प्रारूप तैयार करो, उस पर उनके हस्ताक्षर होने पर ही मैं विश्वास करुँगा।''

मैं अशान्त मन के साथ पुन: उद्बोधन लौटा। मैं जब वहाँ पहुँचा, उस समय स्वामी सारदानन्द ध्यान में तन्मय थे। मैं बैठकर प्रतीक्षा करने लगा, परन्तु मैं अधीर और चंचल था। ध्यान पूरा होने पर स्वामी सारदानन्दजी ने अपनी आँखें

खोलीं और कहा, "ओह ! मैंने सोचा था कि तुम्हीं होगे। क्या महाराज तुम्हें दीक्षा देने को सहमत हुए?"

मैंने खेदपूर्वक उन्हें नवीनतम प्रगति से अवगत कराया और उन्होंने भी बड़े गौर से मेरी आपबीती सुनी। फिर बिना कोई प्रतिक्रिया व्यक्त किये बोले, "ठीक है, मेरे पास उससे भी अच्छा समाधान है। मैं तुम्हारे साथ बेलूड़ मठ चलूँगा।"

अगले दिन हम दोनों बेलूड़ मठ जाकर महाराज के पास उपस्थित हुए। थोड़ी देर बाद स्वामी सारदानन्दजी ने मुझे बाहर जाकर इन्तजार करने का सुझाव दिया। आखिरकार सारदानन्दजी महाराज के कमरे से बाहर आये और पुन: बिना कोई भाव व्यक्त किये मुझसे बोले, "व्यवस्था हो गयी है, तुम्हें भी अन्य लोगों के साथ ब्रह्मचर्य-दीक्षा मिल जाएगी।"

अब भी पचास वर्षों से भी अधिक काल बाद, मैं सिर्फ अनुमान ही लगा सकता हूँ कि दोनों गुरुभाई मेरे बारे में क्या बातें करने के बाद अन्तिम निर्णय पर पहुँचे होंगे।

फिर बिना पैसे दिये ही मेरी दीक्षा हो गयी। यह सब उनका मनोविनोद मात्र था। समाधिवान महापुरुष विनोदप्रिय हुआ करते हैं, वे भगवान की दिव्य लीला का अनुसरण किया करते हैं। वे निष्काम होने के कारण लीला का आस्वादन करते हैं, जबकि हम माया में लिप्त होने के कारण सब कुछ सत्य मानकर कष्ट पाते हैं।

इस प्रकार हँसी में मुझे तंग करने के बाद अब महाराज की उदारता दिखाने की बारी आयी। अनुष्ठान के पूर्व उन्होंने मुझसे कहा, "तुम्हें मलेरिया से कष्ट हुआ था और तुम्हारा शरीर भी दुर्बल है। अत: तुम्हें ब्रह्मचर्य-दीक्षा के पूर्व भोर में गंगास्नान करने की आवश्यकता नहीं है। अपने सिर पर थोड़ा-सा गंगाजल छिड़क लेना। फिर, दिन भर तुम्हें उपवासी रहने की भी आवश्यकता नहीं है। ठाकुर की मध्याह्न पूजा हो जाने के बाद मन्दिर के भण्डार में जाकर प्रसादी फल और मिठाइयाँ खा लेना। तुम्हारे लिए इतना ही यथेष्ट होगा।"

फिर महाराज के निर्देशानुसार दीक्षा के मंत्रों का अर्थ जानने के लिए मैं स्वामी शुद्धानन्द के पास गया। रात बीतने के पूर्व ही हम सब अनुष्ठान के लिए एकत्र हुए। होम की अग्नि प्रज्वलित की गयी और शुद्धानन्दजी ने विधिवत् मन्त्रोच्चारण किये। हमने प्रतिज्ञा-मंत्रों को दुहराया और श्रीरामकृष्ण के प्रतीक-रूपी पवित्र अग्नि में आत्मबलि प्रदान की। अनुष्ठान के पूरे काल में महाराज वहाँ उपस्थित थे। वे अन्तर्मुखी भाव में थे। उनका मुखमण्डल दमक रहा था। अनुष्ठान की समाप्ति पर उन्होंने हम सब को आशीष देते हुए कहा, "ठाकुर तुम्हें ब्रह्मचर्य के इन व्रतों का पालन करने के लिए सूर्य के समान शुद्ध और तेजस्वी बल प्रदान करें। वे अपनी अहैतुकी कृपा से तुम लोगों को अपने चरणों में सच्चा प्रेम और शुद्ध भक्ति प्रदान करें।"

होम हो जाने के बाद हम लोग अपने गुरुजी को प्रणाम करने आये। महाराज ने आशीर्वाद की मुद्रा में अपना हाथ हमारे सिरों पर रख दिया। हमने एक ऐसे हाथ का स्पर्श महसूस किया, जो हमें सारे संकटों से बचाता है और हमारी रक्षा करता है। उन्होंने हम लोगों को नये नाम दिये, मैं कल्याण-चैतन्य हुआ। मैं इस स्मृति को महाराज की कृपा के चिन्ह के रूप में आजीवन सँजोये रहूँगा। अपने जीवनकाल में महाराज ने वह अन्तिम बार ब्रह्मचर्य-दीक्षा प्रदान की थी।

❖ (क्रमश:) ❖

योगी महान विवेकानन्द

देवयानी

जग करे वन्दना युग-युग तक,
हे अमर पथिक संत सदा आनन्द।
तुम्हें पूजता जन-जन-मन,
योगी महान विवेकानन्द ।।
सींच रही है वाणी तेरी
मेरे रक्त का कण-कण ।
तुमने मुझे वीर बनाया,
जीवन अर्घ्य करूँ अर्पण ।।
दया, भक्ति, सेवा और करुणा
प्रेम, शक्ति, शिव विवेकानन्द ।।
योगी महान विवेकानन्द ।।।
दिव्य दृष्टि से देख रहे हो,
मम उर में होकर चेतन ।
भस्म हो गया तम-अँधियारा,
जब पाया तेरा दर्शन ।।
धर्म-प्रतीक, कर्म-समर्पित
ज्ञान-विवेकमय विवेकानन्द ।
योगी महान विवेकानन्द ।।।

कर्मयोग – एक चिन्तन (३३)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

स्वधर्म की एक ही पहचान है, जब हम अपने स्वार्थ या व्यक्तिगत असुविधा के कारण स्वधर्म का त्याग करते हैं, तो वह पाप है, अपराध है। कई लोग ऐसा सोचते हैं कि कौन घर में झंझट करेगा। वृद्ध माता-पिता को वृद्धाश्रम में भेज दें तथा हम मजे से रहें, तो ऐसा करने वाला व्यक्ति महान पाप कर रहा है। जो व्यक्ति स्वधर्म का पालन न करके परधर्म का पालन करेगा, उसका अकल्याण ही होगा – परधर्मो भयावह:। जो अपने अधिकारी को प्रसन्न करने के लिये उसकी खुशामद करता है, मित्रों की प्रसन्नता के लिये उनके माता-पिता की सेवा करता है, किन्तु अपने माता-पिता की सेवा नहीं करता, तो अपने स्वार्थ के लिये उस व्यक्ति ने स्वधर्म का त्याग कर दिया है, यह पाप है और उसका फल उसे भोगना पड़ेगा। भगवान रत्ती-रत्ती का हिसाब लेते हैं। आज या कल, इस जन्म में या अगले जन्म में हमको हमारे कर्मों के फलों का भोग करना ही पड़ेगा। इसलिये जो धर्म स्वाभाविक रूप से मिला है वह हमारा स्वधर्म है। तथाकथित दुर्गुण युक्त, कसाई का काम मांस बेचना यह लोगों की दृष्टि से भले ही अच्छा काम न लगता हो, शौचालय साफ करना भले ही लोगों को भंगी का गंदा काम लगता हो, किन्तु वह उन लोगों का स्वधर्म है, उनका कर्त्तव्य है। जैसे वह लड़का जब ब्रह्मचारी बना तब उसका स्वधर्म, कर्त्तव्य बदल गया। उसी प्रकार जब आपका विवाह हुआ, तो आपके जीवन में एक नया स्वधर्म आ गया। पति का स्वधर्म है पत्नी को सुखी रखना और पत्नी का स्वधर्म है पति को सुखी रखना। पत्नी का पालन-पोषण पति का स्वधर्म है और पति की सेवा पत्नी का स्वधर्म है। यदि पत्नी के माता-पिता बीमार हैं और उन्होंने अपनी पुत्री से कहा कि तुम अपना घर छोड़कर हमारी सेवा करो और यदि पत्नी अपने पति और बच्चों को छोड़कर मायके चली जाय, तो यह स्वधर्म का त्याग होगा। गृहिणी का धर्म अपने घर-परिवार पति की सेवा करना प्रथम कर्तव्य है। स्वधर्म का निर्णय प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं करना पड़ता है।

स्वामी विवेकानन्द जी ने 'कर्मयोग' नामक व्याख्यान में कर्त्तव्य बारे में एक कहानी सुनायी थी, उसमें वे स्वधर्म की बड़ी सुन्दर व्याख्या करते हैं। उस स्वधर्म से हमारा परम कल्याण होगा। वह कहानी मैं सुनाता हूँ –

''एक राजा अपने राज्य में जब कभी कोई संन्यासी आते, तो उनसे सदैव एक प्रश्न पूछा करता था – ''संसार का त्याग कर जो संन्यास ग्रहण करता है, वह श्रेष्ठ है अथवा संसार में रहकर जो गृहस्थ के समस्त कर्तव्यों को करता जाता है, वह श्रेष्ठ है? अनेक विद्वान् लोगों ने कहा कि संन्यासी श्रेष्ठ है। यह सुनकर राजा ने उनसे वह बात सिद्ध करने को कहा। जब वे सिद्ध न कर सके, तो राजा ने उन्हें विवाह करके गृहस्थ हो जाने की आज्ञा दी। कुछ और लोग आये और उन्होंने कहा, ''स्वधर्मपरायण गृहस्थ ही श्रेष्ठ है।'' राजा ने उनसे भी उनकी बात के लिए प्रमाण माँगा। पर वे जब प्रमाण न दे सके, तो राजा ने उन्हें भी गृहस्थ हो जाने की आज्ञा दी।

अन्त में एक तरुण संन्यासी आये। राजा ने उनसे भी वही प्रश्न पूछा। संन्यासी ने कहा, ''हे राजन्! अपने-अपने स्थान में दोनों ही श्रेष्ठ हैं, कोई भी कम नहीं है।'' राजा ने उसका प्रमाण माँगा। संन्यासी ने उत्तर दिया, ''हाँ, मैं इसे सिद्ध कर दूँगा, परन्तु आपको मेरे साथ आना होगा और कुछ दिन मेरे ही समान जीवन व्यतीत करना होगा। तभी मैं आपको अपनी बात का प्रमाण दे सँकूगा।'' राजा ने संन्यासी की बात स्वीकार कर ली और वह उनके पीछे-पीछे जाने लगा। वह उन संन्यासी के साथ अपनी राज्य की सीमा को पार कर अनेक देशों में से होता हुआ एक बड़े राज्य में आ पहुँचा। उस राज्य की राजधानी में एक बड़ा उत्सव मनाया जा रहा था। राजा और संन्यासी ने संगीत और नगाड़ों के शब्द सुने तथा ढिंढोरा पीटने वालों की आवाज भी। लोग सड़कों पर सुसज्जित होकर कतारों में खड़े थे। उसी समय कोई एक विशेष घोषणा की जा रही थी। उपर्युक्त राजा तथा संन्यासी भी यह सब देखने के लिये खड़े हो गये। घोषणा करने वाले ने चिल्लाकर कहा, 'इस देश की राजकुमारी का स्वयंवर होने वाला है।'

राजकुमारियों का अपने लिये इस प्रकार पति चुनना भारत में एक पुरानी प्रथा थी। अपने भावी पति के सम्बन्ध में प्रत्येक राजकुमारी के अलग-अलग विचार होते थे। कोई अत्यन्त

रूपवान पति चाहती थी, कोई अत्यन्त विद्वान, कोई अत्यन्त धनवान, आदि आदि। अड़ोस-पड़ोस के राज्यों के राजकुमार सुन्दर-से-सुन्दर ढंग से सज-धजकर राजकुमारी के सम्मुख उपस्थित होते थे। कभी-कभी उन राजकुमारों के भी भाट होते थे, जो उनके गुणों का गान करते तथा यह दर्शाते थे कि उन्हीं का वरण किया जाय। राजकुमारी को एक सजे हुए सिंहासन पर बिठाकर आलीशान ढंग से सभा के चारों ओर ले जाया जाता था। वह उन सबके सामने जाती तथा उनका गुणगान सुनती। यदि उसे कोई राजकुमार नापसन्द होता, तो वह अपने वाहकों से कहती, "आगे बढ़ो" और उसके पश्चात उस नापसन्द राजकुमार का कोई ख्याल तक न किया जाता था। यदि राजकुमारी किसी राजकुमार से प्रसन्न हो जाती, तो वह उसके गले में वरमाला डाल देती और वह राजकुमार उसका पति हो जाता था।

जिस देश में यह राजा और संन्यासी आये हुए थे, उस देश में इसी प्रकार का एक स्वयंवर हो रहा था। यह राजकुमारी संसार में अद्वितीय सुन्दरी थी और उसका भावी पति ही उसके पिता के बाद उसके राज्य का उत्तराधिकारी होने वाला था। इस राजकुमारी का विचार एक अत्यन्त सुन्दर पुरुष से विवाह करने का था, परन्तु उसे योग्य व्यक्ति मिलता ही न था। कई बार उसके लिये स्वयंवर रचे गये, पर राजकुमारी को अपने मन का पति न मिला। इस बार का स्वयंवर सबसे भव्य था, अन्य सभी अवसरों की अपेक्षा इस बार अधिक लोग आये थे। राजकुमारी रत्नजड़ित सिंहासन पर बैठकर आयी और उसके वाहक उसे एक राजकुमार के सामने से दूसरे के सामने ले गये। परन्तु उसने किसी की ओर देखा तक नहीं। सभी लोग निराश हो गये और सोचने लगे कि क्या अन्य अवसरों की भाँति इस बार का स्वयंवर भी असफल ही रहेगा। इतने ही में वहाँ एक दूसरा तरुण संन्यासी आ पहुँचा। वह इतना सुन्दर था कि मानो सूर्यदेव कहीं आकाश छोड़कर स्वयं पृथ्वी पर उतर आये हों। वह आकर सभा के एक ओर खड़ा हो गया और जो कुछ हो रहा था, उसे देखने लगा। राजकुमारी का सिंहासन उसके समीप आया, और ज्यों ही उसने उस सुन्दर संन्यासी को देखा, त्यों ही वह रुक गयी और उसके गलें में वर माला डाल दी। तरुण संन्यासी ने एकदम माला को रोक लिया और यह कहते हुए कि 'छिः, छिः, यह क्या है' और उसे फेंक दिया। उसने कहा, 'मैं संन्यासी हूँ, मुझे विवाह से क्या प्रयोजन?" उसे देश के राजा ने सोचा कि शायद निर्धन होने के कारण यह राजकुमारी से विवाह करने का साहस नहीं कर रहा है। अतएव उसने उससे कहा, 'देखो, मेरी कन्या के साथ मेरा आधा राज्य तुम्हें अभी मिल जायेगा और मेरी मृत्यु के बाद मेरा सम्पूर्ण राज्य तुम्हें मिल जायेगा!' यह कहकर उसने संन्यासी के गले में फिर से माला डाल दी। उस युवा संन्यासी ने माला फिर निकालकर फेंक दी और कहा, "छिः, यह सब क्या झंझट है, मुझे विवाह से क्या मतलब?" और यह कहकर वह तुरन्त सभा छोड़कर चला गया।

इधर राजकुमारी इस युवा-संन्यासी पर इतनी मोहित हो गयी कि उसने कह दिया, "मैं इसी व्यक्ति से विवाह करूँगी, नहीं तो प्राण त्याग दूँगी।" राजकुमारी संन्यासी के पीछे-पीछे उसे लौटा लाने के लिये चल पड़ी। इसी अवसर पर हमारे पहले संन्यासी ने, जो राजा को यहाँ लाये थे, राजा से कहा, "राजन् चलिये, इन दोनों के पीछे-पीछे हम लोग भी चलें।" वे दोनों उनके पीछे-पीछे पर्याप्त अन्तर रखते हुए चलने लगे। वह युवा-संन्यासी, जिसने राजकुमारी से विवाह करने से इनकार कर दिया था, कई मील निकल गया और अन्त में एक जंगल में घुस गया। उसके पीछे राजकुमारी थी, और उन दोनों के पीछे ये दोनों। तरुण संन्यासी उस वन से भली भाँति परिचित था तथा वहाँ के सारे जटिल रास्तों का उसे ज्ञान था। वह किसी एक रास्ते में घुस गया और अदृश्य हो गया। राजकुमारी उसे फिर देख न सकी। उसे काफी देर ढूँढने के बाद अन्त में वह एक वृक्ष के नीचे बैठ गयी और रोने लगी, क्योंकि उसे बाहर निकलने का मार्ग नहीं मालूम था। इतने में यह राजा और संन्यासी उसके पास आये और उससे कहा, "रोओ मत, हम तुम्हें इस जंगल के बाहर निकाल ले चलेंगे, परन्तु अब बहुत अँधेरा हो गया है, जिससे रास्ता ढूँढ़ना सहज नहीं है। यहीं एक बड़ा पेड़ है, आओ, इसी के नीचे हम सब विश्राम करें और सबेरा होते ही हम तुम्हें मार्ग बता देंगे।" ये सभी लोग उस पेड़ की छाया में रात्रि-विश्राम करने लगे।

उस पेड़ की एक डाली पर एक छोटी चिड़िया, उसकी पत्नी तथा उसके तीन बच्चे रहते थे। उस चिड़िया ने पेड़ के नीचे इन तीनों लोगों को देखा और अपनी पत्नी से कहा, "देखो, आज हमारे यहाँ ये लोग अतिथि हैं, जाड़े का मौसम है, इन्हें ठंड लग रही है, इनके लिये हमें क्या करना चाहिये? हमारे पास आग तो है नहीं।" यह कहकर वह उड़ गया और एक जलती हुई लकड़ी का टुकड़ा अपनी चोंच में दबाकर लाया और उसे अतिथियों के सामने गिरा दिया। उन्होंने उसमें

लकड़ी लगाकर खूब आग तैयार कर ली। परन्तु चिड़िया को फिर भी सन्तोष न हुआ। उसने अपनी स्त्री से फिर कहा, "बताओ, अब हमें क्या करना चाहिये? ये लोग भूखे हैं, और इन्हें खिलाने के लिये हमारे पास कुछ भी नहीं है। हम लोग गृहस्थ हैं और हमारा धर्म है कि जो कोई हमारे घर आये, उसे हम भोजन करायें। जितनी हमारी शक्ति है, उतना हमें अवश्य करना चाहिए। मैं उन्हें अपना यह शरीर ही दे दूँगा।" ऐसा कहकर वह आग में कूद पड़ा और भुन गया। अतिथियों ने उसे आग में गिरते देखा, उसे बचाने का यत्न भी किया, परन्तु बचा न सके। उस चिड़िया की स्त्री ने अपने पति का सुकृत्य देखा और मन में कहा, "ये तो तीन लोग हैं, उनके भोजन के लिए केवल एक ही चिड़िया पर्याप्त नहीं है। पत्नी के रूप में मेरा यह कर्तव्य होता है कि अपने पति के परिश्रमों को मैं व्यर्थ न जाने दूँ। वे मेरा भी शरीर ले लें।" और ऐसा कहकर वह भी आग में गिर गयी और भुन गयी। इसके बाद जब उन तीन छोटे बच्चों ने देखा कि उस अतिथियों के लिये इतना तो पर्याप्त न होगा, तो उन्होंने आपस में कहा, "हमारे माता-पिता से जो कुछ बन पड़ा, उन्होंने किया, किन्तु वह भी उतना पर्याप्त नहीं है। अब हमारा धर्म है कि हम उनके कार्य को पूरा करें, हमें भी अपने शरीर दे देने चाहिये।' और यह कहकर वे सब आग में कूद पड़े।

यह सब देख कर ये तीनों लोग बहुत चकित हुए। इन चिड़ियों को वे खा ही कैसे सकते थे। रात को वे लोग बिना भोजन किये ही रहे। प्रात:काल राजा तथा संन्यासी ने राजकुमारी को जंगल से बाहर निकलने का मार्ग दिखला दिया, वह अपने पिता के घर वापस चली गयी।

तब संन्यासी ने राजा से कहा, "देखिए राजन्, आपको अब ज्ञात हो गया कि प्रत्येक अपने-अपने क्षेत्र में महान है। यदि आप संसार में रहना चाहते हैं, तो इन चिड़ियों के समान रहिए, दूसरों के लिये अपना जीवन दे देने को सैदव तत्पर रहिए। यदि आप संसार छोड़ना चाहते हैं, तो उस युवा-संन्यासी के समान होइये, जिसके लिये वह परम सुन्दरी स्त्री और एक राज्य भी तृणवत् था। यदि गृहस्थ होना चाहते हैं, तो दूसरों के हित के लिये अपना जीवन अर्पित कर देने के लिये तैयार रहिए। और यदि आपको संन्यास-जीवन की इच्छा है, तो सौन्दर्य धन तथा अधिकार की ओर आँख तक न उठाइए। हरेक अपने क्षेत्र में महान् है, परन्तु एक का कर्तव्य दूसरे का कर्तव्य नहीं हो सकता।"

स्वामी जी इस कथा को बताकर कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्थान में महान है। यदि अपने-अपने कर्तव्य में हम सब लोग लगे हुए हैं, तो हम श्रेष्ठ हैं। कोई भी कार्य छोटा या बड़ा नहीं है। कर्म छोटा या बड़ा कर्ता से होता है। कर्ता किसी कर्म को छोटा या बड़ा बना देता है। इसलिए १८वें अध्याय में भगवान कहते हैं –

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।।१८-१७

– जिस कर्ता को अहंकार नहीं है, जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, ऐसा व्यक्ति सभी लोकों की हत्या करते हुए भी वह न किसी का हन्ता होता है और न ही बन्धन में पड़ता है।

गीता के सार से हमें यह पता लगता है कि सारा परिवर्तन कर्ता को अपने भाव में लाना है। कर्म तो जड़ है। चाहे हमें मांस बेचना पड़े, चाहे शास्त्रपाठ करना पड़े, जो भी कर्म हमें करना पड़े, अगर हम अपना सम्पूर्ण कर्म प्रभु के चरणों में समर्पण कर दें, तो प्रत्येक कर्म पूजा हो जायेगा। यह गीता का राजमार्ग है। ❑❑❑

हे दीन शरण प्रभु क्लेश हरण

स्वामी समर्पणानन्द

हे दीन शरण प्रभु क्लेश हरण।
हे पद्म नयन चिरहास वदन
हे वेद वचन प्रभु प्राण-पवन
हे प्रेम सघन प्रभु ताप-शमन
हे दीन शरण प्रभु क्लेश हरण।
तव युगल चरण प्रभु शीश नमन
थम पतन सघन थम नीच गमन
हे हृदय गगन प्रभु नाम भजन
अविराम जपन प्रभु रूप रमण
हे दीन शरण प्रभु क्लेश हरण।

स्वामी विज्ञानानन्द की स्मृतियाँ

स्वामी वीरेश्वरानन्द

श्रीरामकृष्ण के संन्यासी शिष्यों में स्वामी विज्ञानानन्द सब से छोटे थे। यहाँ उनके जीवन की कुछ घटनाओं का उल्लेख करता हूँ। एक बार वे बेलूड़ मठ में आये हुए थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी भी उन दिनों वहीं निवास कर रहे थे। आज वर्षा होगी या नहीं – एक दिन इसी बात को लेकर दोनों के बीच बाजी लगी। उस दिन चारों ओर तेज धूप फैली हुई थी। वर्षा आने के कोई लक्षण नहीं दीख रहे थे। परन्तु ब्रह्मानन्द जी ने विज्ञानानन्द जी से कहा था – वर्षा होगी। अत: वे प्रतीक्षा करने लगे कि सचमुच ही वर्षा होती है या नहीं। उस समय वे सोच रहे थे कि बाजी मैं अवश्य जीत जाऊँगा। तभी सहसा आकाश में बादल का एक टुकड़ा दीख पड़ा। उसे देखकर ब्रह्मानन्द जी ने अपने हाथ की मुट्ठी बाँधकर उसे ज्योंही घुमाया, त्योंही टपाटप जल की कुछ बूँदें बरस पड़ीं। अब क्या था – विज्ञानानन्द जी बाजी हार चुके थे।

एक अन्य दिन बेलूड़ मठ में भवन-निर्माण का काम चल रहा था। विज्ञानानन्द जी कार्य की निगरानी कर रहे थे। एक दिन सहसा ईंटों की कमी पड़ गयी। उन्होंने फिर ब्रह्मानन्द जी के साथ बाजी लगायी। ब्रह्मानन्द जी बोले, "भोर होने के पहले ही एक पूरी नाव भरकर ईंटें आ जायँगी।" यह देखने के लिये कि नाव आयी या नहीं – स्वामी विज्ञानानन्द जी रात में दो-तीन बार उठकर बरामदे में गये। काफी रात हो गयी, परन्तु नाव नहीं आ रही थी। ऐसा लग रहा था कि वे ही बाजी जीत जायेंगे। परन्तु अपने कमरे में लौटने के कुछ मिनट बाद ही उन्हें मल्लाह की पुकार सुनायी दी। नौका आ चुकी थी। इस बार भी वे ब्रह्मानन्द जी से बाजी हार गये।

स्वामी विज्ञानानन्द जी को चाय पीना बड़ा पसन्द था और वे दूसरों को भी चाय पिलाकर बड़े आनन्द का अनुभव करते थे। अब भी ऐसे भक्त मिल जाते हैं, जिन्होंने उनके साथ चाय पीया है और उन्हें चाय पिलाते हुए देखा है। खैर, एक बार हम लोग बेलूड़ मठ में चाय पीने बैठे थे। विज्ञानानन्द जी सबके लिये चाय ढाल रहे थे। हर कप के ऊपर अलग-अलग छानने का वस्त्र रखकर वे चाय ढाल रहे थे।

एक बार जब वे बेलूड़ मठ आये, उस समय उन्हें अतिसार का रोग हुआ था। महापुरुष महाराज बोले, "विज्ञान, तुम चाय पीना छोड़ दो।" उत्तर में विज्ञान महाराज बोले, "हाँ, यदि एक बार और अतिसार हो, तो छोड़ दूँगा।"

एक बार सारदानन्द जी की जन्मतिथि पर विज्ञानानन्द जी उद्बोधन-भवन में उपस्थित थे। कॉलेज के दिनों से ही दोनों के बीच घनिष्ठ मित्रता थी, क्योंकि दोनों एक साथ कॉलेज में पढ़ते थे। विज्ञानानन्द जी जब पहली बार ठाकुर से मिलने दक्षिणेश्वर गये, तब सारदानन्द जी भी उनके साथ गये थे। सारदानन्द जी की जन्मतिथि थी, इसीलिये बहुत-से भक्त आ कर उन्हें प्रणामी दे-देकर प्रणाम कर रहे थे। विज्ञान महाराज बाहर खड़े सब देख रहे थे। भक्तों के चले जाने पर रुपयों का ढेर सारदानन्द जी के सामने पड़ा था। विज्ञान महाराज ने बड़े शान्त भाव से कमरे में प्रवेश किया और सारे रुपये समेटते हुए बोले, "देखो शरत्, तुम्हें तो रुपयों की जरूरत नहीं है। मुझे बिल्डिंग बनाना पड़ रहा है, इसलिये मुझे इनकी जरूरत है।" यह कहकर उन्होंने सारे रुपये उठा लिये। शरत् महाराज लाचार होकर बोले, "हाँ, हाँ, ले जाओ।"

पैगम्बर मुहम्मद के चरित्र के प्रति विज्ञानानन्द जी की विशेष श्रद्धा थी। उनकी ऐसी धारणा थी कि पैगम्बर एक खूब शक्तिशाली महापुरुष थे। यदि उनका कोई चित्र मिल जाता, तो वे उसे अपने कमरे में रखने को इच्छुक थे; वैसे उन्हें पता था कि इस प्रकार उनका चित्र रखना इस्लाम धर्म द्वारा अनुमोदित नहीं है।

वे बेलूड़ मठ के बरामदे में गंगा की ओर के एक छोटे कमरे में निवास करते थे। एक दिन शाम को उसी बरामदे में बैठकर उन्होंने हम लोगों को स्वामीजी विषयक एक घटना बतायी थी। घटना इस प्रकार है – एक दिन रात के दो बजे स्वामीजी की नींद टूट गयी। वे बरामदे में टहल रहे थे। विज्ञान महाराज ने पूछा, "स्वामीजी, क्या आपको नींद नहीं आ रही है?" उत्तर में स्वामीजी बोले, "देखो पेशन, मैं भलीभाँति सो रहा था। सहसा एक धक्का जैसा लगा और मेरी नींद टूट गयी। ऐसा लगता है कि कहीं कोई दुर्घटना हो गयी है और इससे बहुत-से लोगों को दु:ख-कष्ट हुआ है।"

विज्ञान महाराज ने हम लोगों को बताया, 'स्वामीजी की यह बात सुनकर मैंने सोचा – "न जाने कहाँ कोई दुर्घटना हुई है और स्वामीजी की यहाँ नींद खुल गयी – भला ऐसा भी सम्भव है ! ऐसा सोचकर मैं मन-ही-मन थोड़ा-सा हँसा। परन्तु आश्चर्य की बात ! अगले दिन सुबह के अखबार में मैंने देखा – पिछली रात के दो बजे फीजी के पास एक द्वीप में ज्वालामुखी के विस्फोट से बहुत-से लोग मारे गये हैं और बहुत-से लोग निराश्रय होकर बड़े अवर्णनीय कष्ट भोग रहे हैं। समाचार पढ़कर मैं अवाक् रह गया।" इस घटना से लगा कि स्वामीजी का स्नायु-तंत्र मानवीय दु:खों के प्रति सेस्मोग्राफ (भूकम्प-मापी यंत्र) से भी अधिक संवेदनशील है।

(बँगला से अनुवाद – स्वामी विदेहात्मानन्द)

स्वामी विवेकानन्द की हिमालय-यात्रा (७)

स्वामी विदेहात्मानन्द

अब तक हमने देखा कि स्वामी अखण्डानन्दजी के साथ स्वामीजी ने छह दिन नैनीताल में निवास किया और उसके बाद पहाड़ों, जंगलों के मार्ग से अल्मोड़ा की ओर चल पड़े। मार्ग में स्वामीजी को कई प्रकार की आध्यात्मिक तथा अलौकिक अनुभूतियाँ हुईं। अल्मोड़ा में लगभग एक सप्ताह के प्रवास के दौरान कुछ महत्त्वपूर्ण घटना हुईं और वे आगे बदरिकाश्रम के मार्ग पर चल पड़े। – सं.)

कर्णप्रयाग में पहला पड़ाव

५ सितम्बर को चारों गुरुभाई – स्वामी विवेकानन्द, स्वामी सारदानन्द, स्वामी अखण्डानन्द और स्वामी कृपानन्द ने एक कूली के साथ अल्मोड़ा से बदरिकाश्रम की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में स्वामी अखण्डानन्द की खाँसी बढ़ गयी, तथापि वे खाँसते हुए ही चलते रहे।

कर्णप्रयाग पहुँचकर उन लोगों को पता चला कि उस क्षेत्र में अकाल का भीषण प्रकोप होने के कारण सरकार ने यात्रियों के लिए केदारनाथ और बदरिकाश्रम का मार्ग बन्द कर दिया है, अत: उन लोगों ने तीन दिन कर्णप्रयाग में ही निवास किया और इसके बाद भी उस मार्ग के खुलने की कोई आशा न देखकर दूसरी राह पकड़ी। वहाँ से निकलते ही स्वामीजी को बुखार आ गया और अखण्डानन्द की छाती का रोग भी बढ़ गया। अत: वे लोग सलड़काड़ चट्टी में विश्राम करने लगे। ५-७ दिनों बाद चलने की शक्ति आ जाने पर वे लोग धीरे-धीरे रुद्रप्रयाग पहुँचे।

रुद्रप्रयाग में

रुद्रप्रयाग की प्राकृतिक सुषमा अवर्णनीय थी। चारों ओर निर्जनता और गहन-गम्भीर प्रशान्ति का साम्राज्य फैला हुआ था – केवल झरनों तथा जलप्रपात के स्वर ही सुनाई देते थे; और बीच-बीच में चिड़ियों की चहचहाहट तथा झिल्लियों की झंकार भी सुनाई देने लगती थी। चाँदी के समान चमचमाते श्वेत चिर हिम के आवास – हिमालय की अपूर्व शोभा देखकर स्वामीजी का बचपन तथा यौवन से सँजोया हुआ स्वप्न साकार होने लगा। उनका मन मानो उस समय प्रकृति के साथ एक सुर-तान में बँध गया था। नदी की कल-कल ध्वनि उनके कानों में विभिन्न राग-रागिनियों का परिचय देती और वे अपने गुरुभाइयों को भी बताते रहते। अलकनन्दा का कल-कल निनाद सुनकर उन्होंने कहा था, "यह अभी केदार राग में प्रवाहित हो रही है।" स्वामीजी को अनुभव हुआ कि विभिन्न पर्वती नदियों के प्रवाह में विशेष सुर हैं और दिन के विभिन्न कालों में उनकी राग-रागिनी बदलती रहती है। एक दिन गुरुभाइयों का ध्यान इस विषय पर आकृष्ट करते हुए वे बोले, "मन्दाकिनी इस समय केदार राग में बह रही हैं।"[१०]

ऐसा ही एक विवरण प्रियनाथ सिन्हा की स्मृतिकथा में भी मिलता है, "१८९० में नैनीताल से टिहरी होते हुए हिमालय का पैदल भ्रमण करते समय उनके गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्द उनके साथ थे। एक रात वे निर्जन में गंगाजी के किनारे बैठकर अपलक नेत्रों से काफी समय तक उसके प्रवाह को देखते रहे। बाद में लौटकर उन्होंने गुरुभाइयों को बताया था, 'देखो, आज मैंने सुना – गंगा केदार राग में बही जा रही थीं।' इसी प्रकार वे हिमालय की अन्य नदियों-सरिताओं का निरीक्षण करके भी कहा करते, 'यह गौरी राग में गा रही है' आदि आदि। कभी-कभी वे पर्वत से नि:सृत होनेवाली जलराशि से उठ रही राग-रागिनी के साथ अपने कण्ठ से तान मिलाकर गाते। और कभी-कभी किसी पक्षी की आवाज सुनकर उसके सुर का निर्धारण करते।"[११]

रुद्रप्रयाग में उन लोगों की पूर्णानन्द नामक एक बंगाली संन्यासी से भेंट हुई। पहली रात उन लोगों ने इन्हीं के आश्रम में बितायी। अगले दिन पास के धर्मशाले में टिकने के बाद स्वामीजी और अखण्डानन्द फिर ज्वरग्रस्त हो गए – इस बार का बुखार पहले से भी अधिक तेज था। सौभाग्य से वहाँ गढ़वाल के सदर अमीन (मुंशिफ) श्री बद्रीदेव जोशी से भेंट हो गई। उन्होंने कृपा करके दोनों संन्यासियों को कुछ आयुर्वेदिक दवाएँ दीं और उन लोगों के कुछ स्वस्थ होने पर डण्डी की व्यवस्था करके नौ मील दूर श्रीनगर भेज दिया। वे लोग अल्मोड़े से करीब १२० मील रास्ता तय कर चुके थे। इस प्रकार भिक्षा, ध्यान और सच्चर्चा करते हुए तथा बीमारी के कारण धीरे-धीरे चलते हुए भी काठगोदाम से उन लोगों को अब तक तीन सप्ताह से कुछ ही अधिक समय लगा था।

---

१०. स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी अन्नदानन्द, पृ. ५९-६७

११. स्वामीजी ओ शिल्प, प्रियनाथ सिन्हा, उद्बोधन, वर्ष ८, संख्या ११ (१५ आषाढ़, १३१३), पृ. ३३२

अखण्डानन्दजी ने लिखा है, "इसी यात्रा के दौरान मेरी बीमारी का सूत्रपात हुआ। मार्ग में स्वामीजी को और मुझे बुखार हुआ। हम दोनों सलड़काड़ चट्टी में ५-७ दिन बिस्तर पकड़े रहे। अगली चट्टी (रुद्रप्रयाग) में फिर बुखार चढ़ा। अल्मोड़ा के सदर-अमीन की दवा से हम स्वस्थ हुए।"[१२]

अखण्डानन्द जी ने पूर्वोल्लेखित १४ नवम्बर १८९० के पत्र में लिखा है – "बदरिकाश्रम के मार्ग में कर्णप्रयाग नामक स्थान में थोड़ा ज्वर हो जाने के कारण वहाँ तीन दिन विश्राम करने के बाद हम लोग वहाँ से नीचे श्रीनगर की ओर चले। मार्ग में एक चट्टी में भाई नरेन्द्रनाथ को भी बुखार आ गया। हम लोग वहाँ तीन दिनों तक ज्वर भोग करने के बाद चलने की क्षमता खोकर भी धीरे-धीरे नीचे की ओर ५-६ मील आकर मार्ग की एक धर्मशाला में पहुँचकर दोनों ही पूरी तौर से ज्वराभिभूत हो पड़े। उसके अगले दिन वहाँ के मुंसिफ महोदय ने हम लोगों को वैद्यकी दवा का सेवन कराने के बाद यत्नपूर्वक डण्डीयान में श्रीनगर पहुँचवा दिया। मुंसिफ महाशय की दवा से तत्काल लाभ हुआ। वहाँ (श्रीनगर) हम लोग एक पखवारे से अधिक काल तक आराम से रहे। परन्तु मेरी खाँसी दूर नहीं हुई। अस्तु, यहीं पर मैं सर्वापेक्षा अधिक ठीक रहा।"[१३]

श्रीनगर (गढ़वाल) में तपस्या

श्रीनगर में उन लोगों ने अलकनन्दा के तट पर एक कुटिया में आश्रय लिया। वहाँ उन्हें यह सूचना मिली कि स्वामी तुरीयानन्द पहले इसी कुटीर में तपस्या करते थे। इस यात्रा के दौरान स्वामीजी अपने गुरुभाइयों के साथ अधिकांशत: उपनिषदों के तत्त्वज्ञान पर ही चर्चा किया करते थे। दिन-पर-दिन प्राचीन ऋषियों द्वारा अनुभूत मंत्रों में निहित गूढ़ आत्मज्ञान का अमृतपान करते और कराते हुए वे उसके उदात्त सौन्दर्य की व्याख्या में तल्लीन होकर देश-काल और देहबोध से परे चले जाते। भिक्षाटन के द्वारा उदरपूर्ति करते हुए इसी तरह शास्त्रचर्चा तथा ध्यान-धारणा में समय बिताते हुए उन लोगों ने यहाँ एक महीने से भी अधिक समय तक निवास किया था।

श्रीनगर में ही स्वामीजी की वैश्य जाति के एक शिक्षक से भेंट हुई। उन्होंने उन दिनों प्रचलित फैशन के प्रभाव में आकर अपना धर्म छोड़कर ईसाई धर्म अपना लिया था। बाद में उन्हें इसके लिए पश्चाताप हुआ। स्वामीजी के साथ सत्संग करते हुए धीरे-धीरे वे उनके प्रबल अनुरागी हो गये और अन्तत: अपने सनातन धर्म में ही लौट आए।[१४]

अखण्डानन्दजी लिखते हैं, "इसके बाद श्रीनगर जाकर हम लोग वहाँ एक-डेढ़ महीने रहे। मार्ग में हम लोग स्वामीजी से उपनिषद् पढ़ा करते थे। श्रीनगर में साधन-भजन चलता रहा। स्वामीजी भागीरथी की ओर जाने को व्याकुल थे। हम सभी पैदल ही टिहरी की ओर चल दिये।"[१५]

टिहरी के पथ पर

"(टिहरी के) मार्ग में संध्या के समय एक गाँव में पहुँच कर गाँव के चबूतरे पर अड्डा जमाने के बाद स्वामीजी को तम्बाकू पिलाने के लिये मैं आग की खोज में गया। पर किसी भी पहाड़ी ने आग नहीं दी। मेरे लौटने के बाद सभी चिन्तित हो गये। मैंने कहा, 'एक कहावत है – गढ़वाली जैसा दाता नहीं, लट्ठ के बगैर देता नहीं।' इसी कहावत के अनुसार हम सभी जाकर जोर से चिल्लाते हुए कहने लगे, 'लकड़ी लाओ, आग लाओ।' तत्काल ही वहाँ के निवासी रोटी, तरकारी, लकड़ी, आग, तम्बाकू आदि सब लेकर आये और हम लोगों से शान्त हो जाने का अनुरोध करने लगे।"[१६]

इस प्रसंग में अखण्डानन्द जी ने बाद में सविस्तार कहा था, "ऐसा नहीं है कि गढ़वाल के सभी निवासी पत्थरदिल हैं। इसके मुकाबले पूर्वी परगना के दासौली स्थान के लोग अधिक अतिथि-परायण हैं, विशेषकर बद्री-नारायण के पास के लोग। हिन्दी में एक कहावत है, 'गढ़वाली जैसा दाता नहीं, लट्ठ के बगैर देता नहीं।' अर्थात् वैसे तो गढ़वाली बड़े दानी होते हैं, परन्तु जब उन्हें डराया जाए, केवल तभी। ... हम तीन लोग – स्वामीजी (विवेकानन्द), सारदानन्द और मैं – श्रीनगर से टिहरी जा रहे थे। रात के समय हमने एक गाँव की धर्मशाला में आश्रय लिया। मैंने गाँववालों से विनम्र भाव से थोड़ी जलौनी काठ और आग देने का अनुरोध किया, परन्तु किसी ने मेरी बात नहीं सुनी। मैं गाँव के हर व्यक्ति के पास गया, पर किसी ने भी कोई जवाब नहीं दिया। तब मुझे यह कहावत याद आई। हम तीनों गाँव के एक चबूतरे पर खड़े होकर जोर-जोर से चिल्लाने लगे, 'हमारे लिए लकड़ी लाओ, आग लाओ।' इसका प्रभाव पड़ा। हर व्यक्ति

१२. स्मृतिकथा (बँगला), स्वामी अखण्डानन्द, पृ. ५६
१३. शरणागति ओ सेवा (बँगला), सं. १९९६, पृ. ६५-७
१४. युगनायक विवेकानन्द, खण्ड १, सं. १९९८, पृ. २४४
१५. स्मृतिकथा (बँगला), स्वामी अखण्डानन्द, सं.१९९४, पृ. ५६
१६. स्मृतिकथा (बँगला), स्वामी अखण्डानन्द, पृ. ५६-५७

कुछ-न-कुछ लाया। कुछ लोग आग लाए, कुछ जलौनी लकड़ी लाए, अन्य लोग रोटी, दूध या सब्जियाँ लाए। उन लोगों ने यह सारी चीजें सामने रख दीं और हमारे चारों ओर हाथ जोड़कर खड़े हो गए। इसके बाद से हमें यह बताने की जरूरत नहीं थी कि हमें क्या चाहिए। अब वह उन लोगों से, एकदम भिन्न व्यक्ति थे, जिनसे मैंने विनम्रतापूर्वक याचना की थी, वे काफी भयभीत लगते थे और मैंने सोचा – यदि हम थोड़ा और चिल्लाए होते, तो ये लोग अपनी झोपड़ियाँ और घर तक खुले छोड़कर भाग गए होते।''[१७]

भोजन की सामग्री आ जाने पर साधुओं ने कहा कि रोटी आदि तैयार मिलना चाहिए। ग्रामवासियों ने तत्काल बड़े आनन्दपूर्वक भोजन बना दिया और काफी रात तक बैठकर साधुओं से ग्रामांचल की रीति-नीति तथा सुख-दु:ख आदि पर चर्चा करते रहे। साधुगण भी उन लोगों के सरल व्यवहार और सेवा-परायणता को देखकर मुग्ध हो गए।[१८]

स्वामीजी के साथ हिमालय-भ्रमण की स्मृतियों के प्रसंग में अखण्डानन्द ने बताया था – स्वामीजी और मैं पहाड़ पर चले जा रहे थे। एक जगह देखा कि एक साधु शरीर को सिर तक भलीभाँति ढँककर ध्यान करने बैठा है और जोरों से खर्राटे की आवाज आ रही है। स्वामीजी बोल उठे, ''अरे, यह भी कम नहीं! यहाँ आकर बेटा बैठे-बैठे सो रहा है! इसके कन्धे पर हल जोत दे, तब शायद उसका कभी कुछ भला हो।'' तपोभूमि हिमालय में भी साधुओं का ऐसा आचरण देखकर स्वामीजी ने समझ लिया कि सत्त्वगुण के आवरण में घोर तमोगुण ने पूरे देश को आच्छन्न कर लिया है। सत्त्व के भ्रम में देश तमोसमुद्र में डूबा जा रहा है। आपादमस्तक प्रत्येक शिरा में विद्युत्-संचारी रजोगुण का आविर्भाव ही इससे उद्धार का उपाय है।[१९]

टिहरी में भागीरथी के तट पर

टिहरी पहुँचने के बाद वहाँ उन्हें निर्जन गंगातट पर एक उजड़े हुए बगीचे में साधुओं के लिए निर्मित दो कमरे मिले। वहाँ वे लोग भिक्षा माँगकर उदरपूर्ति करते और गंगाजी के तट पर बैठकर दिन-रात निरन्तर साधन-भजन में लग गये। अखण्डानन्दजी लिखते हैं, ''टिहरी में करीब १५-२० दिन रहकर हमने साधन-भजन किया और माताजी के निर्देश की याद करते हुए मैं प्रतिदिन माधुकरी करके स्वामीजी को खिलाता रहा। पं. हरप्रसाद शास्त्री के भाई श्री रघुनाथ भट्टाचार्य टिहरी राज्य के दीवान थे। उनसे बातें करने के बाद स्वामीजी ने निश्चय किया कि गंगा और विलांगना नदियों के संगम पर स्थित गणेशप्रयाग में कुटिया बनाकर वहीं तपस्या करेंगे।''[२०]

स्वामीजी की इच्छानुसार उनकी साधना के लिए एक कुटिया बना दी गयी, पर स्वामीजी को उसमें रहने का सुयोग नहीं हो सका। अखण्डानन्दजी कुछ दिनों तक सर्दी, खाँसी, बुखार आदि से पीड़ित चल रहे थे। वहाँ गंगास्नान करने के बाद अखण्डानन्द जी को पुन: हल्का ज्वर आने लगा। स्थानीय डाक्टर ने कहा कि उनके ब्रांकाइटिस होने की सम्भावना है। पहाड़ की ठण्डी जलवायु से व्याधि और बढ़ जायेगी। खासकर शीत ऋतु आने ही वाली है, अत: वे लोग जितनी जल्दी नीचे उतर जाएँ, उतना ही अच्छा होगा। ऐसी बातें सुनकर और गुरुभ्राता के हित की बातें सोचकर स्वामीजी ने तपस्या का संकल्प त्याग किया और देहरादून जाने का निश्चय किया। तब तक उन लोगों के वहाँ पन्द्रह-बीस दिन बीत चुके थे। यात्रा के पूर्व स्वामीजी ने दीवानजी से मिलकर सारी बातें समझा दीं और कहा कि भविष्य में फिर कभी अवसर मिला, तो वे उनकी सुव्यवस्था का सदुपयोग करेंगे।

अखण्डानन्द जी की जीवनी के अनुसार – टिहरी के डॉक्टर ने उनकी जाँच के बाद कहा था, ''छाती में कफ जम गया है। पहाड़ पर रहने से शरीर नहीं रहेगा। यथाशीघ्र मैदानी अंचल में जाकर चिकित्सा करानी होगी।'' (पृ. ६५)

सारी बातें सुनने के बाद दीवान जी ने अखण्डानन्द जी की चिकित्सा के लिए देहरादून के सिविल सर्जन के नाम एक पत्र लिख दिया और स्वामीजी एवं स्वामी अखण्डानन्द को मसूरी तक ले जाने के लिए दो घोड़ों की व्यवस्था कर दी। इसके अतिरिक्त उन लोगों के पथ्य की व्यवस्था भी कर दी। तदुपरान्त सभी देहरादून को चले। यहाँ भी स्वामीजी के जीवन में पहले की ही बातों की पुनरावृत्ति दीख पड़ती है। वे जब भी तपस्या में डूब जाना चाहते, तभी विघ्न उपस्थित हो जाता। इसी कारण स्वामी अखण्डानन्द ने एक बार लिखा था – मैंने ''स्वामीजी को असंख्य बार कहते सुना है कि जब भी उन्होंने निर्जन नीरव साधना में लीन हो जाने का प्रयास किया है, तभी घटनाक्रम के दबाव में पड़कर उन्हें

१७. स्वामी अखण्डानन्द के जेरूप देखियाछि (बँगला ग्रन्थ)
१८. युगनायक विवेकानन्द, खण्ड १, सं. १९९८, पृ. २४४
१९. स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी अन्नदानन्द, नागपुर,प्र.सं.,पृ. ६४
२०. स्मृतिकथा (बँगला), स्वामी अखण्डानन्द, पृ. ५७

साधना छोड़नी पड़ी है।'' वे जानते थे कि श्रीरामकृष्ण ने उन पर गुरुभ्राताओं के संरक्षण का जो भार सौंपा है, उस दायित्व -पालन की तुलना में अपनी तपस्या भी तुच्छ है।[२१]

इसी प्रसंग में स्वामी अखण्डानन्द जी ने १४ नवम्बर १८९० के पूर्वोल्लेखित पत्र में लिखा है – "(स्वामीजी की) भागीरथी दर्शन की लालसा बढ़ जाने से वहाँ (श्रीनगर) और अधिक न ठहरकर हम लोग टिहरी जा पहुँचे और माँ का दर्शन करके अपना मन-प्राण सार्थक किया। टिहरी पहुँचकर दो-एक दिन गंगास्नान करते ही मेरा शरीर रुग्ण हो गया। प्रतिदिन हल्का-हल्का बुखार होने लगा; यहाँ तक कि अंजली भर जल मस्तक पर डालने पर भी संध्या के समय बाहर आते ही ज्वर में वृद्धि हो जाती। वैसे मेरे लिये जितना सावधान रहना आवश्यक था, उतना रहा। समझ गया कि अब मेरा पहले का स्वास्थ्य जा चुका है, पर शिकायत न करना ही अच्छा है। यह शिकायत का नहीं, बल्कि यत्न का विषय है। यहाँ नरेन्द्रनाथ को कोई बीमारी नहीं थी। बाद में वहाँ के डॉक्टर ने मेरे सीने की परीक्षा करके देहरादून जाने की सलाह दी। क्योंकि वहाँ (टिहरी में) ठण्ड अधिक और भिक्षा की अनियमितता थी।"[२२]

राजपुर में स्वामी तुरीयानन्द से भेंट

चिकित्सक की बात सुनने के बाद स्वामीजी ने बदरिकाश्रम या हिमालय के किसी भी स्थान में तपस्या करने का संकल्प छोड़ दिया और अखण्डानन्द को साथ लेकर देहरादून जाने का निश्चय किया। चारों गुरुभाई टिहरी से रवाना हुए और मसूरी होते हुए आगे बढ़े। जब वे लोग राजपुर से होकर जा रहे थे, तभी दूर से ही एक साधु को देखकर उन्हें लगा कि ये सम्भवत: उनके परमप्रिय गुरुभाई हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) ही प्रतीत हो रहे हैं। वे लोग उच्च स्वर में 'हरिभाई' को पुकारने लगे और पास पहुँचकर देखा, तो वे सचमुच तुरीयानन्द जी ही थे। उन दिनों वे राजपुर में तपस्या कर रहे थे। लम्बे अर्से के बाद इस प्रकार सहसा भेंट हो जाने से पाँचों गुरुभाई हर्षविभोर हो गये। एक-दूसरे का कुशल-मंगल जान लेने के बाद वे अपने-अपने भ्रमण के अनुभव सुनाने लगे। वह सम्भवत: १३ अक्तूबर (१८९०) का दिन था और शारदीय नवरात्र आरम्भ होने में केवल एक दिन बाकी था। ❖ **(क्रमशः)** ❖

२१. युगनायक विवेकानन्द, खण्ड १, सं. १९९८, पृ. २४५
२२. शरणागति ओ सेवा (बँगला), कलकत्ता, सं. १९९६, पृ. ६६

विवेक की शक्ति

के. बी. अग्रवाल

एक दिन महान दार्शनिक सुकरात अपने शिष्यों के साथ बैठे थे। किसी गम्भीर विषय पर चर्चा पर चल रही थी। तभी एक ज्योतिषी वहाँ आ पहुँचा। वह चेहरा देखकर चरित्र बताने के लिय मशहूर था। वह गौर से सुकरात को देखते हुये उनके शिष्यों से बोला, 'तुम लोगों ने इस व्यक्ति को अपना गुरु बनाया है, इसका सम्मान करते हो, लेकिन इसका चरित्र खराब है । इसके नथुनों की बनावट बता रही है कि यह क्रोधी है।'' यह सुनते ही सुकरात के शिष्य ज्योतिषी को मारने दौड़े पर सुकरात ने उन्हें फौरन रोक दिया और कहा, 'ये विद्वान हैं, इन्हें बोलने दो।' इस पर ज्योतिषी तेज आवाज में बोला, 'मैं सत्य को छिपाकर सत्य का अपमान नहीं करना चाहता। इस व्यक्ति के सिर की बनावट से पता चलता है कि यह अत्यधिक लालची है और ठोड़ी बताती है कि यह सनकी है। होठों से मालूम होता है कि देशद्रोही निकलेगा।'

सुकरात मुस्कुराते रहे। उन्होंने उस व्यक्ति को उपहार देकर आदर के साथ विदा किया। एक शिष्य से रहा नहीं गया। उसने पूछ ही लिया, 'गुरुदेव, वह आदमी लगातार बकवास करता रहा, फिर भी आपने उसे इतना सम्मान दिया। मेरी तो कुछ समझ में नहीं आ रहा।' सुकरात गम्भीर होकर बोले, 'उस व्यक्ति ने बकवास नहीं की बल्कि उसने सत्य कहा और सत्य की तरफ से मुंह मोड़ना बुरी बात है।' यह सुनकर सारे शिष्य हैरत भरी नजरों से सुकरात को देखने लगे। एक शिष्य ने पूछा, 'यानी आप वैसे ही हैं, जैसा उसने बताया है? 'सुकरात बिना संकोच के बोले, 'हाँ, उसने जो कहा है, वह सत्य है। मुझमें भी कई अवगुण हैं, लेकिन ... सारे शिष्य एक साथ बोले, 'लेकिन क्या गुरूदेव? 'शिष्यों को समझाते हुए सुकरात ने कहा, 'क्रोधावेग में उससे एक चूक हो गई।' शिष्यों ने पूछा 'कैसी चूक?' सुकरात बोले, 'उसने मेरे विवेक पर ध्यान नहीं दिया जिसकी शक्ति से मैं अपने सभी दुर्गणों को कैद करके रखता हूँ।' ❑

यदि शान्ति चाहती हो बेटी, तो किसी का भी दोष मत देखना। दोष अपना देखना। जगत को अपना बना लेना सीखो, कोई पराया नहीं, सारा जगत तुम्हारा है। - **श्रीमाँ सारदा देवी**

भारतीय जीवन-दृष्टि और पुरुषार्थ-चतुष्टय (३)

डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा

प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

धर्म के विकास और स्वरूप पर संक्षेप में विचार करने पर कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दु उभरते हैं।

धर्म मूलत: औचित्यबोध है। इस औचित्यबोध का पर्यवसान या इसका फल समष्टि का कल्याण है, अर्थात् 'सबका हित' है। धर्म की परिकल्पना के भीतर व्यष्टिहित और समष्टिहित परस्पर स्वतंत्र नहीं हैं । भारतीय जीवन दृष्टि यह स्वीकार करती है कि जिसमें समाज का हित है, उसमें ही व्यक्ति का भी हित है।

धर्म के दो प्रमुख तत्त्व हैं – नैतिकता और आचार। धर्म भावरूप भी है और क्रियारूप भी है। सत्संकल्प और शुभेच्छा क्रियारूप में व्यक्त होकर ही कल्याण का साधक बनते हैं। हमारा धर्मशास्त्र सबके लिये अवश्य-पालनीय साधारण धर्मों और विशिष्ट वर्णाश्रम धर्मों का अवश्य-करणीय और अकरणीय दृष्टि से विधान करता है। इन सभी कर्मों का आचरण साक्षात् या परम्परा या विश्व-कल्याण से सम्बन्धित है। नितान्त व्यक्तिगत गुण भी अन्तत: परोपकार में ही फलित होते हैं। आत्मसंयम और आत्मत्याग – ये दो ही तत्त्व सम्पूर्ण धर्म के व्यक्तिगत और सामाजिक पक्ष को व्याख्यायित करते है।

प्रारम्भ से ही धर्म के साथ यज्ञ की भावना जुड़ी है। यह यज्ञ धर्म के आचार पक्ष से जुड़ा है। शबर स्वामी कहते हैं – **यागादिरेव धर्मः** – यागादि ही धर्म है। कालान्तर में अनेक क्रिया-कलाप (ritual) धर्म के व्यावहारिक पक्ष चले गये और एक विस्तृत और विविध रूपात्मक कर्म-वितान निर्मित हो गया। वस्तुत: कर्मकाण्ड को किसी भी धर्म या नैतिक व्यवस्था से अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि मनुष्य क्रियाशील प्राणी है और अपने अच्छे या बुरे किसी भी विचार या इच्छा को क्रिया द्वारा ही व्यक्त करता है। वाचिक व्यवहार भी क्रिया ही है। धर्म विचाररूप और क्रियारूप दोनों है किन्तु हर क्रिया धर्म नहीं है, अत: कैसा कर्म अधर्म है और कैसा कर्म धर्म है, यह जानना आवश्यक है। इसे समझने के लिये 'यज्ञ' की धारणा समझना आवश्यक है। यदि यज्ञ क्या है यह जान लिया जाय तो कर्मकाण्ड की धर्मरूपता समझ में आ जाती है। 'परार्थकर्म' ही यज्ञ है; जो अपना है, अपने लिये है उसे दूसरे के लिये समर्पित करना ही यज्ञ है। यज्ञ के समय जब किसी देवता के लिये आहुति देते हैं तो अन्त में आहूत वस्तु पर अपने स्वत्व के त्याग की घोषणा की जाती है –"**इन्द्राय स्वाहा, इदं इन्द्राय, इदं न मम**"। यह 'इदं न मम' ही यज्ञ का तत्त्व है। इस स्वत्व-त्याग की भावना से किया गया प्रत्येक कर्म यज्ञ है, और यज्ञ ही धर्म है। अब यज्ञ का स्वरूप स्थूल से सूक्ष्म तक, मनुष्य के व्यवहार के हर स्तर पर घटित किया जा सकता है। व्यक्ति की सम्पत्ति, संसाधन, श्रम, विचार, और संकल्प का उपयोग जब सबके कल्याण के लिये हो, तो वह 'यज्ञ' है, वह 'धर्म' है, और जब ऐसा न हो, तो 'अधर्म' है। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं –

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंग समाचर ।।

अर्थात् यज्ञ के अतिरिक्त अन्य कर्मों में लगा हुआ व्यक्ति कर्मबन्धन में पड़ता है, अत: हे कौन्तेय ! आसक्तिरहित होकर कर्म करो। इस प्रकार स्वार्थ-त्याग धार्मिक कर्मकाण्ड का मूलतत्त्व है। काम्य कर्म यद्यपि व्यक्तिगत अभीष्ट सिद्धि के लिये किये जा सकते हैं तथापि उनका आचरण इसी प्रकार किया जाना चाहिये कि अन्य किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचे। इसीलिये अहिंसा को परम धर्म कहा गया है – **अहिंसा परमो धर्मः।**

धर्म का आनुष्ठानिक ritualistic पक्ष किसी भी प्रकार नैतिक सिद्धान्तों या सद्‌गुणों का महत्त्व कम नहीं करता, वस्तुत; वह नैतिकता का ही स्थूल विस्तार है। ऐसी अनेक उक्तियाँ शास्त्रों में प्राप्त होती हैं जो स्पष्ट रूप से आचार की पवित्रता और चरित्र की शुद्धता पर बल देती हैं। पराशर स्मृति में कहा गया है – **चतुर्णामपि वर्णानां आचारो धर्मफलकः। आचार भ्रष्टदेहानां भवेत् धर्म पराङ्मुखः** ।। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है – जिसे यज्ञ कहते हैं वह वस्तुत: ब्रह्मचर्य ही है "**अथ यत् यज्ञ इत्युच्यते ब्रह्मचर्यमेव तत्**" (८.५.१)। प्राचीन साहित्य में, विशेषत: रामायण

और महाभारत में सर्वत्र यह विचार दृष्टिगत होता है कि जीवन जीने की दो विधाएँ हैं । एक नैसर्गिक प्रवृत्तियों (ritualistic) का मार्ग जो कि 'काम' है और दूसरा सदाचारिता या नीतिपरायणता (righteousness) का मार्ग जो 'धर्म' है । काम का मार्ग आकर्षक, सरल और शीघ्र सफलता देने वाला प्रतीत होता है किन्तु अन्ततः उसका ही कल्याण होता है, जो धर्म का अनुसरण करता है – **यतो धर्मस्ततो जयः** (महा. ६.६५.१८) इस प्रकार धार्मिक अनुष्ठानों को एक नैतिक आधार देकर भारतीयों ने उसका उदात्तीकरण किया है, इससे धर्म का साम्प्रदायिक या व्यवहार पक्ष विश्वनीय और प्रामाणिक हो जाता है ।

इसके अतिरिक्त धार्मिक कर्मकाण्ड का सही क्रियान्वयन अपने आप में चरित्र की इतनी शुद्धता और इन्द्रियों का इतना संयम चाहता है कि विलासी या दुश्चरित्र व्यक्ति के लिये उसका पालन ही असम्भव है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि धर्म प्रधानरूप से नैतिक अवधारणा है ।

एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि धर्म का प्रयोजन क्या है? धर्म के क्रमिक विकास में इस प्रयोजन का रूप भी विकसित और परिवर्द्धित होता रहा है । प्रयोजन पर विचार करना इसलिये आवश्यक है क्योंकि वही कर्त्ता को कार्यविशेष में प्रवर्तित करता है, अतः प्रत्येक क्रिया के द्वारा किसी न किसी अभीष्ट की सिद्धि होती है । यह अभीष्ट सिद्धि ही प्रयोजन है । धर्मशास्त्रों में जिन नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों का विधान है, उन कर्मों को करने से भी किसी-न-किसी अभीष्ट की सिद्धि होनी चाहिये, तभी व्यक्ति की उनमें प्रवृत्ति होगी – '**इष्टसाधनताज्ञानं प्रवर्त्तकम**' । काम्य कर्मों के द्वारा विभिन्न फलों की प्राप्ति कही गई है, किन्तु 'सत्यं ब्रूयात्' का फल नहीं कहा गया । 'सत्यं ब्रूयात्' आदेश के फलस्वरूप भी क्रिया होती है और उस क्रिया का फल भी होना चाहिये । वस्तुतः इन नित्य-नैमित्तिक कर्मों का भी फल है, भले ही उसका स्वरूप निषेधात्मक हो, और वह फल है 'प्रत्यवायों की निवृत्ति' । प्रत्यवाय का अर्थ है आगामी दुःख । इनको करने से भविष्य में प्राप्त होने वाले उस दुःख की निवृत्ति होती है, जो यदि इन कर्मों को न किया जाता, तो मिलता ।

धर्म के अन्तिम लक्ष्य के स्वरूप में जो परिवर्तन हुआ उसने भी धर्म के प्रयोजन को प्रभावित किया । मूलतः धर्म के दो प्रयोजन थे – इस लोक में अभ्युदय और स्वर्ग की प्राप्ति । स्वर्ग में देवोपम भोगों की प्राप्ति ही मनुष्य का चरमलक्ष्य था । कालान्तर में जन्ममृत्यु के चक्र से, संसरण से, मुक्ति पाना ही जीवन का चरमलक्ष्य बन गया । अभी तक धर्म की इष्टसाधनता ऐहिक और पारलौकिक सुखों की प्राप्ति कराने में थी, अब वह मोक्षलाभ कराने में हो गई । इस सुखदुःखात्मक संसार से मुक्ति पाने का उपाय है आत्मज्ञान । आत्मज्ञान या आत्मबोध की पात्रता जीव में तभी विकसित हो सकती है जब उसका चित्त शुद्ध हो । चित्त त्रिगुणात्मक है, अर्थात् प्रकृति का कार्य होने के कारण सत्त्व, रजस् और तमस से निर्मित है । त्रिगुणात्मक होने पर भी वह प्रधानरूप से सत्त्वगुणमय है, इसलिये उसे 'चित्तसत्त्व' या 'बुद्धिसत्त्व' कहते हैं । रजोगुण और तमोगुण ही चित्त की मलिनता है । निषिद्ध और काम्य कर्मों से मन हटा कर नित्य नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करने से चित्त निर्मल होता है । रजोगुण और तमोगुण की वृत्तियों का दब जाना और सत्त्वगुण की वृत्तियों का प्रबल हो जाना ही अन्तःकरण की निर्मलता सम्पादित करता है । इस प्रकार मोक्ष के चरम लक्ष्य बन जाने से 'सत्त्वशुद्धि' ही धर्म का प्रयोजन बन गई । सत्त्वशुद्धि के लिये चित्तशुद्धि और भावशुद्धि शब्दों का भी प्रयोग होता है ।

सामान्यतः यह देखा जाता है कि मनुष्य धर्म और अधर्म को पहचानता है । वह जानता है कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है, किन्तु फिर भी उसकी धर्म में प्रवृत्ति नहीं होती और अधर्म से निवृत्ति नहीं होती "**जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः**" । मनुष्य के मन में उसकी उदात्त वृत्तियों और पाशविक वृत्तियों में संघर्ष होता है । उसके पूर्वजन्मों के अशुभ संस्कार इसे नीचे की ओर खीचते है, और उसकी स्वाभाविक दिव्यता उसे चेतना के ऊँचे स्तर पर ले जाना चाहती है । यहाँ धर्म मनुष्य की सहायता करता है । वह उसके पूर्वजन्मों के अशुभ संस्कारों का नाश करता है, उसे 'दुरितक्षय' कहते हैं । 'दुरित' का शाब्दिक अर्थ है 'वह जो गलत दिशा में चला गया' अर्थात् जो नहीं किया जाना था । इस तरह पापकर्मों के आचरण से जो अशुभ संस्कार बने और जो सत्त्वशुद्धि में बाधक हैं, विहित कर्मों का अनुष्ठान उन्हें नष्ट कर देता है । जीवन की सर्वोच्च उपलब्धिस्वरूप मोक्ष का अनुष्ठान उन्हें नष्ट कर देता है । जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि स्वरूप मोक्ष एक सकारात्मक जीवनमूल्य है, और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'प्रत्यवायनिवारण' जैसे नकारात्मक मूल्य की अपेक्षा धर्माचरण के लिये अधिक

प्रभावी प्रेरणा देता है।

धर्म यदि 'औचित्यबोध' रूप का माना जाय तो उसके साथ किसी 'शुभत्व' या उत्तम या अच्छे की धारणा अवश्य जुड़ेगी क्योंकि औचित्य का पर्यवसान किसी न किसी उत्तमता की स्थिति में अवश्य होता है। संसार में बहुत कुछ ऐसा है जिसे उत्तम कहा जा सकता है, कुछ इसलिये उत्तम है क्योंकि वह इच्छित या सुखद है, कुछ इसलिये उत्तम है क्योंकि वह इच्छित या सुखद है; की प्राप्ति कराता है; यह उत्तमता अस्थिर या अल्पजीवी हो सकती है, होती है, इसलिये अन्ततः ऐहिक उत्कर्ष और पारलौकिक अमृतत्व से होती हुई भारतीय चिन्तन की दृष्टि उस बिन्दु पर टिकती है जो सर्वोत्तम है और सर्वनिरपेक्ष है। यही आत्मलाभ है, जिसे मोक्ष कहते हैं और यही धर्म का साध्य है। धर्म इसका साधन है। इस प्रकार मनुष्य के सांसारिक और आध्यात्मिक व्यक्तित्व का संस्कार करने वाला यह धर्म उसे भौतिक और अतिभौतिक व्यक्तित्व का संस्कार करने वाला यह धर्म उसे भौतिक और अतिभौतिक दोनों ही स्तरों पर कृतार्थ करता है।

(क्रमशः)

श्रीमाँ सारदा का स्वरूप

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज के विविध लेखों का एक संग्रह बँगला में 'श्रीरामकृष्णेर भावादर्श' नाम से एक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत लेख का हिन्दी अनुवाद वहीं से स्वामी विदेहात्मानन्दजी ने किया है। – सं.)

श्रीमाँ के बारे में चर्चा करते समय मन में बारम्बार अपनी क्षुद्रता, अपूर्णता तथा मलिनता की बात ही आती है। उन्हें समझने तथा प्रकट करने की क्षमता हम लोगों में नहीं है। माँ लज्जापटावृता थीं। उनका अवगुण्ठन से मुक्त चेहरा देखने का सौभाग्य बहुत कम लोगों को ही प्राप्त हुआ था। यहाँ तक कि जब उन्होंने अपने स्थूल शरीर में श्रीरामकृष्ण की उत्तराधिकारी के रूप में लीला की और ठाकुर की भावधारा प्रवाहित की, तब भी उनका दर्शन दुर्लभ था। उपनिषद् के ऋषि कहते हैं –

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।। ईश., १५

– हे जगत् के पोषक सूर्य, मैं सत्यधर्मा हूँ, मैंने सत्य को धर्म के रूप में, व्रत के रूप में स्वीकार किया है। आपका ज्योतिर्मय सत्य-स्वरूप ढका हुआ है। आप अपने उस रूप को प्रकट कीजिये, ताकि हम लोग अपने स्वरूप को जान सकें।

सारा संसार जिनके प्रकाश से आलोकित है, हम उन्हें देख नहीं पाते। उनके उस प्रकाश को देखकर उसे सहन कर पाने की क्षमता शायद हममें नहीं है। इसीलिये उन्होंने स्वर्णिम आवरण से स्वयं को ढक रखा है। यदि वे उसे प्रकट करतीं, तो भी हम लोग संकोचवश दूर खिसक जाते। उनके सान्निध्य में जाने का साहस हमें नहीं होता। इसीलिये हम देखते हैं कि श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ हमारे कल्याण हेतु अपने स्वरूप को ढक कर आये हैं, ताकि हम उनके निकट सान्निध्य में जा सकें।

श्रीरामकृष्ण में अन्य विभूतियाँ न दिखने पर भी, सत्त्वगुण का ऐश्वर्य था। उन्हें क्षण-क्षण समाधि लगती रहती थी। वे निरन्तर भगवच्चर्चा करते रहते थे। उनके आसपास ऐसा एक भावमय परिवेश बना रहता कि भावों के नासमझ लोग वहाँ ठहर नहीं पाते थे। जिन्हें भगवच्चर्चा अच्छी नहीं लगती, वे कहते, ''तुम लोग बातचीत करो, हम लोग जाकर नौका में बैठते हैं। अर्थात् श्रीरामकृष्ण अपने चारों ओर के परिवेश को इतना आलोकित किये रखते कि वहाँ उनके भावग्राहियों के सिवाय अन्य लोग टिक नहीं पाते थे। परन्तु माँ के अन्दर ऐसा कुछ वैशिष्ट्य था, जो हमें ठाकुर में भी प्रायः नहीं दिखायी देता। माँ के द्वार सबके लिये उन्मुक्त थे, कोई प्रतिबन्ध नहीं था और कोई चुनाव भी नहीं था। इसीलिये ठाकुरजी से भी अधिक माँ को समझना कठिन है। स्वामीजी ने अपने गुरुभाइयों को सम्बोधित करते हुए कहा था – तुम लोगों में से किसी ने भी माँ को नहीं समझा। स्वामीजी का यह निष्कर्ष था कि माँ को किसी ने नहीं समझा। वे एक महाशक्ति की आधार हैं। वे उस विराट् शक्ति को लेकर लीला कर रही हैं, जो साधारण बुद्धि के लिये अगम्य है। मात्र एक-दो लोग, या सम्भवतः केवल वे एक विवेकानन्द ही उनके स्वरूप से थोड़े-बहुत परिचित हुए थे।

एक बार माँ ट्रेन से आ रही थीं। माँ का स्वागत करके लाने

के लिये अन्य पाँच लोग स्वामी ब्रह्मानन्द को सँभालकर ले गये थे। महाराज बड़े संत्रस्त और संकुचित थे, माँ के पास अधिक नहीं जाते थे। माँ ट्रेन से उतरकर प्लेटफार्म पर बैठी थीं। सब लोग बलपूर्वक महाराज को खींचकर माँ के पास ले गये। वे हाथ जोड़कर रोते हुए 'माँ-माँ' कहते हुए प्रणाम करके तत्काल वहाँ से खिसक गये। इसी को अनुभव कहते हैं। उनका परिचय पाते ही हम अभिभूत हो जायँगे, अपनी क्षुद्रतावश अनुभव करेंगे कि हममें उनके समक्ष खड़े होने की क्षमता नहीं है। इसीलिये उन्होंने अपने समस्त भावों को छिपाकर केवल मातृरूप में ही स्वयं को जगत् के समक्ष अभिव्यक्त किया है। उन्हें पाकर, 'माँ' के रूप में पुकारकर जितनी तृप्ति मिलती है, जगदम्बा कहकर पुकारने से उतनी तृप्ति नहीं मिलती।

जो लोग माँ के जीवन-चरित से परिचित हैं, वे जानते हैं कि उनके जीवन के प्रारम्भिक दिनों में कुछ-कुछ अलौकिक घटनाएँ हुई थीं। पर ज्यों-ज्यों वे विकसित हुईं, स्वयं को सबके समक्ष प्रकट किया, त्यों-त्यों उन्होंने हम लोगों के प्रति करुणा करके अपने ऐश्वर्य को ढँका था। वे हम लोगों जैसी अयोग्य सन्तानों की माँ थीं, ऐश्वर्य के आडम्बर में घिरी होने पर सन्तान उनके समक्ष संकुचित हो जाते। सन्तानों का सारा संकोच दूर करके उन्हें अपनी गोद में खींच लेने के लिये ही उन्होंने ऐश्वर्यविहीन होकर स्वयं को प्रकट किया था।

इस प्रसंग में एक घटना का उल्लेख करते हैं। माँ उस समय बैंगलोर गयी थीं। वहाँ बहुत-से भक्त उनका दर्शन करने आये हुए थे। एक महिला भक्त माँ को पहचान न पाकर उन्हें ढूँढ़ रही थीं। इसके बाद उन्होंने महिलाओं के बीच एक खूब गहने आदि पहनकर खूब सजी हुई महिला को देखकर सोचा – लगता है कि ये ही माँ हैं। उसे प्रणाम करने जा रही थीं, तभी अन्य लोगों ने दिखा दिया कि माँ कहाँ हैं। अवश्य ही माँ कोई विराट ऐश्वर्यमण्डिता महामहिमामयी विभूतिसम्पन्ना होंगी – यही सोचकर वे आयी थीं, इसीलिये वे माँ को पहचान नहीं पा रही थीं। माँ ने अपने स्वरूप को ढककर स्वयं को प्रकट किया था, इसीलिये यह हमारे लिये परम कल्याणकारी हुआ है। नहीं तो, हम लोगों को उनकी ओर अग्रसर होने का साहस नहीं होता। इस विषय में उनकी करुणा ठाकुर से भी अधिक थी।

ठाकुर अपने अपूर्ण कार्य को पूरा करने हेतु माँ को छोड़ गये। माँ ने उसी गुरुभार को अपने कन्धों पर उठा लिया था। अन्य अवतारों की शक्ति के रूप में जो आयी थीं, उनकी अवतारों के गूढ़ कार्य में भूमिका अल्प ही थी। इस दृष्टि से माँ के अवदान के विषय में सोचने पर विस्मित रह जाना पड़ता है। जो इतनी शक्तिमयी थीं, वे स्वयं को ऐसा दिखा रही हैं, मानो बिल्कुल देहाती महिला हों, कुछ भी नहीं जानतीं। गाँव की महिला कलकत्ते में आयी हैं, नल खोलने पर 'शों, शों' की आवाज हुई – माँ सोच रही हैं कि इसके भीतर साँप घुसा हुआ है क्या? फिर जब भक्तगण जीवन की बड़ी-बड़ी समस्याएँ लेकर आते हैं, तो ये माँ ही प्रगाढ़ ममता के साथ अपनी सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा सबका अनायास ही सहज समाधान बता दे रही हैं। विद्वत्ता का अभिमान दिखाते हुए नहीं, बल्कि सीधे-सादे ढंग से। वस्तुत: श्रीरामकृष्ण स्वयं ही दिखा गये हैं कि केवल विद्वत्ता से सभी समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। श्रीमाँ यह विशेष रूप से दिखा गयीं कि ठाकुरजी के समान वचनामृत-रूपी विशाल मन्दाकिनी को प्रवाहित किये बिना केवल स्नेह के माध्यम से ही समस्याओं का समाधान हो सकता है।

स्नेहेन बध्नासि मनोऽस्मदीयम्
दोषान् अशेषान् सगुणी करोषि।

– उपरोक्त वाक्य के माध्यम से स्तोत्र में जो बात कही गयी है, वह अक्षरश: सत्य है। अपने असीम स्नेह के द्वारा ही माँ ने भक्तों के दोष-त्रुटियों और अभाव-अपूर्णताओं को दूर कर दिया। माँ का यही कार्य था। माँ किसी का भी परित्याग नहीं करतीं, जो भी आता है, उसे स्वीकार कर लेती हैं और हम देखते हैं कि इस मातृत्व के क्षेत्र में वे ठाकुरजी के निर्देश का उल्लंघन तक करती हैं।

दक्षिणेश्वर में रहते समय ठाकुरजी के दोनों समय के भोजन के समय माँ को उनके पास जाने का सुयोग मिलता। वे नौबतखाने में निवास करती थीं, सामने ही ठाकुरजी का कमरा था, बीच में केवल रास्ते की ही बाधा थी। बरामदे में प्राय: ही कीर्तन होते रहते, परन्तु प्रत्यक्ष रूप से उन सबमें सम्मिलित नहीं हो पाती थीं। परदे में एक छोटा-सा छिद्र था, उसी पर आँख रखकर देखतीं। कितने आकुल आग्रह के साथ वे भक्तों के साथ ठाकुरजी की लीलाओं को देखना चाहतीं, यह उस छोटे-से छिद्र के सामने उनके खड़े रहने की घटना से ही समझा जा सकता है। तो भी ठाकुर शिकायत करते – अरे ओ हृदय, छेद तो बड़ा होता जा रहा है!

दूसरी ओर वे श्रीरामकृष्ण की सेवा भी करती हैं। उनके जीवन में दीख पड़ता है कि वे बचपन से ही सेवापरायणा थीं। उनका एक निर्धन परिवार में लालन-पालन हुआ था। पिता का देहान्त होने पर उनके परिवार में कष्ट बढ़ गया था। छोटे-छोटे भाइयों का झमेला और घर-गृहस्थी के सारे काम उन्होंने अपने हाथ में ले लिये थे। गले भर पानी में डूबकर कर वे गायों के लिये घास काटतीं। जितना भी हो पाता, अपनी माता की सहायता करके उनके कष्ट को घटाने का प्रयास करतीं।

उनके बचपन में उस अंचल में अकाल पड़ा था। एक बार भूखे लोग आकर गरम खिचड़ी नहीं खा पा रहे थे, तब माँ उसे ठण्डा करने के लिये अपने छोटे-छोटे हाथों में पंखा लेकर उस पर हवा करने लगीं। आयु बढ़ने के साथ उन्होंने और भी अनेक दायित्वों को अपने कन्धों पर उठा लिया। यह सेवा-परायणता, स्वेच्छापूर्वक दायित्व-भार ग्रहण करना उनका स्वाभाविक गुण था। परन्तु केवल एक परिवार की सेवा करके ही तो उनके जीवन का उद्देश्य सिद्ध नहीं होता, इसीलिये ठाकुरजी ने उन्हें इस विश्व-ब्रह्माण्ड की माँ के रूप में स्थापित करके उन्हें विराट् उत्तरदायित्व सौंपा है। माँ की माता श्यामा सुन्दरी देवी ने कहा था, ''अहा, मैंने ऐसे पागल जमाई के साथ अपनी सारदा का ब्याह कर दिया कि न तो उसकी घर-गृहस्थी जमी, न उसे बाल-बच्चे ही हुए, 'माँ' की पुकार तक वह न सुन सकी।'' यह सुनकर ठाकुर ने कहा था, ''सासू माँ, इसके लिए दु:ख मत करो। तुम्हारी बेटी के इतने बाल-बच्चे होंगे कि अन्त में देखोगी, वह 'माँ-माँ' सुनते-सुनते परेशान हो जाएगी।'' ठाकुरजी की बात पूरी तौर से नहीं, बल्कि केवल आंशिक रूप से ही सत्य सिद्ध हुई हैं। क्योंकि सारे संसार के चारों ओर से सभी लोगों ने उन्हें 'माँ-माँ' कहकर पुकारा है, परन्तु इससे भी माँ परेशान नहीं हुईं। सन्तानों की यह मधुर पुकार उनमें कभी नाराजगी नहीं उत्पन्न कर सकी। सर्वदा सभी तरह के भक्तों के लिये उनके प्राणों में टीस उठती और जी-जान से प्रयास करतीं कि किस प्रकार उन्हें थोड़ा-सा आनन्द, शान्ति और सांत्वना दे सकूँ। माँ की ओर से यही स्वाभाविक भी है। बच्चे यदि धूल-कीचड़ में लोटकर आ जायँ, तो भी माँ का काम है उसके धूल आदि को झाड़कर उसे गोद में उठा लेना। यदि कोई अनुचित या गलत काम कर आता, तो भी उसे माँ के पास आने से मना नहीं किया जा सकता था। माँ ने कभी उसका परित्याग नहीं किया। ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं।

हम पहले बता चुके हैं कि माँ ठाकुरजी के पास केवल दो बार ही जाती थीं, भोजन ले जाकर उन्हें खिलाती थीं। एक बार एक महिला ठाकुरजी का भोजन माँ से माँगकर स्वयं ले गयीं। परन्तु ठाकुरजी खाने बैठकर कैसे भी खा नहीं पा रहे थे, हाथ सिकुड़ जा रहे थे। माँ के पास सूचना गयी। माँ ने खूब व्यथित होकर हाथ जोड़कर ठाकुरजी से कहा, ''इस बार तो तुम खा लो।'' ठाकुर बोले, ''बोलो, फिर कभी अन्य किसी के हाथ में नहीं दोगी।'' श्रीमाँ ने हाथ जोड़कर कहा, ''यह तो मैं नहीं कर सकूँगी, ठाकुर। तुम्हारा भोजन मैं स्वयं ले आऊँगी, पर यदि कोई मुझे 'माँ' कहकर उसे माँगे, तो मैं मना नहीं कर सकूँगी।'' ठाकुर नाराज नहीं हुए। उनमें इस मातृत्व की स्थापना के लिये ही तो वे इतना प्रयास कर रहे थे और उन्होंने जब भी माँ में मातृत्व का विकास देखा, वे आनन्दविभोर हो उठे। वे समझ गये कि उनके द्वारा शुरू किया हुआ कार्य अब अबाध गति से चलता रहेगा। अपने विवाह के बाद से ही उन्हें जब भी मौका मिलता, वे माँ को विविध प्रकार की शिक्षा तथा उपदेश देकर गढ़ते रहे। भक्तों को दीक्षा देने के लिये कहा, जोर देकर कहा और माँ ने जब भी अपने मातृभाव के समर्थन में ठाकुरजी की किसी बात को अस्वीकार किया, तो वे इससे दुखी नहीं हुए। रात में बाबूराम महाराज को अधिक खाते देखकर ठाकुर नाराज होकर बोले, ''तुम बाबूराम को इस प्रकार अधिक खिला रही हो, इससे तो वह रात में ज्यादा जप-ध्यान नहीं कर सकेगा। उसके भावी धर्मजीवन के लिये कौन उत्तरदायी होगा?'' माँ ने दृढ़तापूर्वक कहा, ''मैं माँ हूँ, जानती हूँ कि सन्तान को खिलाना है या नहीं खिलाना है। यह सब मेरे ऊपर छोड़ दो – मैं जैसा उचित समझूँगी, वैसा करूँगी। और यदि उन लोगों के दायित्व की बात कहते हो, तो मैं उसे स्वीकार करती हूँ।'' ठाकुर माँ के मुख से यही स्वीकारोक्ति सुनना चाहते थे कि माँ इन सारे शिष्यों का भार लेंगी और माँ ने वह भार स्वीकार भी किया। (क्रमश:)

ओ शंकर डमरू वाले

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

ओ भक्तों के रखवाले, ओ शंकर डमरु वाले।
मैं चरण शरण में आया, कष्टों से मुझे बचाने ले।।
ओ मेरे जीवन-स्वामा, तू तो है अन्तर्यामी।
मैं महा विपत्ति का मारा, अब अपने गले लगा ले।।
तू तो है अवढर दानी, महिमा सबने है जानी।
मैं महामूढ़ अभिमानी, अविलम्ब मुझे अपना ले।।
यह कहता है जग सारा, तू ने अनगिन को तारा।
तेरा ही मुझे सहारा, मधुरेश' विनय मत टाले।।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२७०. तेज वही, जो सबको भावे

ज्येष्ठ मास में भगवान सूर्य द्वारा अग्निबाणों की तरह फेंकने वाली किरणों को सहन न कर पाने से उनकी पत्नी संज्ञा सदा आँखें बन्द कर लेती थी। एक दिन सूर्य ने रुष्ट होकर उससे पूछा, ''क्या तुम्हें मेरा तेजस्वी रूप पसन्द नहीं है?'' संज्ञा ने डरते हुए आँखें बन्द कर लीं। देखकर सूर्यदेव और भी उग्र हो गए। संज्ञा और भी डर गई। उसने वहाँ न रहने में ही भलाई समझी और अपने पिता विश्वकर्मा के घर जाने का निश्चय किया। पितृगृह जाने से पूर्व उसने अपनी छाया को प्रगट करके उससे कहा, ''जब तक मैं वापस न लौटूँ, तुम मेरा स्थान लेना।'' अपनी दो सन्तानों – यम और यमुना को छाया को सुपुर्द करके वह मायके चली गई।

सूर्यदेव को संज्ञा के घर छोड़ कर चले जाने की बात ज्ञात नहीं हुई। वे छाया को ही संज्ञा समझने लगे। बाद में छाया से भी उनकी दो सन्तानें हुईं – सावर्णि शनिदेव तथा तपति। एक दिन संज्ञापुत्र यम और छायापुत्र सावर्णि शनि में किसी बात पर झगड़ा हुआ। बात इतनी बढ़ गई कि यम ने सावर्णि पर प्रहार करने के लिये दाहिना पैर उठाया। अचानक छाया वहाँ आई और उसने यम को शाप दिया कि जिस पैर से तू प्रहार करना चाहता है, वह गल जाएगा। यम ने पिता के पास जाकर शाप की बात बता दी। सूर्य सोचने लगे कि क्या कोई माँ अपने ही पुत्र को इतना कठोर शाप दे सकती है? वे छाया के पास गए और उससे कहा, ''मेरा पक्का विश्वास है कि तुम यम की माँ नहीं हो।'' छाया को सही बात बतानी पड़ी। उसने यम से अपना शाप लौटाते हुए कहा कि तेरा दाहिना पैरा गलेगा नहीं, छोटा हो जायगा।

संज्ञा को घर लौटी देखकर पिता विश्वकर्मा ने कारण पूछा। उसे सारी बात बतानी पड़ी। उन्होंने संज्ञा को ससुराल लौट जाने को कहा, किन्तु संज्ञा वहाँ नहीं जाना चाहती थी। वह उत्तरकुरु में जाकर तप में लीन हो गई। सूर्य जब पत्नी को वापस लाने विश्वकर्मा के पास गये, तो उन्होंने बताया कि वह तपस्या कर रही है और कहा कि वे उसे मनाकर वापस भिजवा देंगे। जब उन्होंने संज्ञा से पुन: घर लौट जाने का अनुरोध किया, तो वह बोली, जब तक उनका रूप इतना सौम्य नहीं हो जाता कि मैं उनका अपलक दर्शन कर सकूँ, तब तक मैं नहीं जाऊँगी।'' विश्वकर्मा ने सूर्य का तेज घटाया और संज्ञा को जाने के लिये मनाया। संज्ञा लौटी और सहजता से सूर्यदेव के दर्शन कर सकी।

हमें अपनी शक्ति का उपयोग करते समय यह देखना चाहिये कि कहीं उससे दूसरों को पीड़ा तो नहीं हो रही है। हमें अपने क्रोध पर भी नियंत्रण रखना चाहिये और सदैव सबके हित की ही बात सोचनी चाहिये।

२७१. इन्द्रियों की माया विद्वानों को भी नचाती है

एक दिन महर्षि व्यास काव्य रचना कर रहे थे। उन्होंने लिखा – बलवान्-इन्द्रिय-ग्रामो विद्वांसम्-अपि कर्षति (इन्द्रियाँ बलवान हैं, विद्वान् ज्ञानी व्यक्ति को भी खींच ले जाती हैं।) पास खड़े शिष्य जैमिनी ने कहा, ''गुरुदेव, क्षमा करें, आपने भूल से – नापकर्षति (नहीं खींच पातीं) की जगह अपिकर्षति लिख दिया है।'' महर्षि बोले, ''मैंने ठीक ही लिखा है और यही संसार की वास्तविकता है।'' जैमिनी चुप रह गए, पर व्यासजी समझ गये कि शिष्य जैमिनी सन्तुष्ट नहीं हुआ है।

अगले दिन सुबह जब जैमिनी पूजा-पाठ की तैयारी में लगे थे, तभी सहसा जोरों की वर्षा होने लगी। थोड़ी ही देर में वहाँ एक सुन्दर युवती आई। उसे वर्षा से भीगी देख मुनि ने ओढ़ने के लिए उसे वल्कल वस्त्र दिया। वे पूजा करने के लिए आसन पर बैठे, तो स्त्री की सुन्दर मुखाकृति उन्हें विचलित करने लगी। आसन से उठकर उन्होंने स्त्री से पूछा, ''क्या तुम अकेली हो। क्या तुम्हारा विवाह नहीं हुआ?'' स्त्री के द्वारा 'नहीं' कहने पर मुनि ने कहा कि वे अविवाहित हैं, क्या वह उनसे विवाह करेगी?'' स्त्री बोली, ''मेरे पिता ने शर्त रखी है कि जो व्यक्ति मुझे अपनी पीठ पर बिठाकर चार चक्कर लगाएगा उसी से वे मेरा विवाह करेंगे।''

मुनि ने तत्काल उत्तर दिया, ''मुझे शर्त मंजूर है। मेरी पीठ पर बैठ जाओ।'' स्त्री ने वृक्ष की एक शाखा तोड़ी और उसे हाथ में लेकर मुनि की पीठ पर सवार हो गई। मुनि जब दौड़ने लगे, तो स्त्री उस शाखा से उन्हें मारने लगी। मुनि चुपचाप मार सहते रहे। अब स्त्री बोली, ''मुनिवर, अब तो आपको मालूम हो गया होगा कि 'विद्वांसम् अपि कर्षति' (इन्द्रियाँ ज्ञानी व्यक्ति को भी खींच ले जाती हैं।) ही सही है। मुनि ने स्त्री को पीठ पर से उतारकर उसकी ओर देखा, तो सामने वेदव्यास खड़े थे। उन्होंने लज्जित होकर कहा, ''हाँ गुरुदेव, आपने जो लिखा, था वही सत्य है।''

अविद्या माया द्वारा प्रेरित मन तथा इन्द्रियों का भोग्य वस्तुओं के प्रति ऐसा अदम्य आकर्षण है कि काम-लिप्सा, धन-दौलत की इच्छा और नाम-यश की आकांक्षा के समक्ष बड़े-बड़े विद्वानों की विद्या-बुद्धि भी घास चरने लगती है।❑

श्रीरामचन्द्र के अंश से अवतीर्ण स्वामी निरंजनानन्द

स्वामी मेधजानन्द

अरे निरंजन, दिन तो बीते जा रहे हैं रे ! तू भगवत्प्राप्ति कब करेगा? भगवत्प्राप्ति के बिना सब व्यर्थ हो जाएगा। बोल, तू कब उन्हें प्राप्त करेगा, कब उनके चरण-कमलों में मन लगाएगा?' निरंजन अवाक् रह गये! – 'ये कौन हैं? मुझे भगवत्प्राप्ति नहीं हो रही है, मेरे दिन बीते जा रहे हैं, इसलिए इनको मेरे बारे में इतनी व्यथा क्यों हो रही है? दूसरे के लिए यह अहैतुक प्रेम क्यों?

निरंजन का भगवान श्रीरामकृष्ण देव से यह द्वितीय साक्षात्कार था। श्रीरामकृष्ण मानों उनकी सुप्त चेतना को जागृत कर कह रहे हों कि ईश्वर-प्राप्ति ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य है श्रीरामकृष्ण अपने जिन विशिष्ट अन्तरंगों को 'ईश्वरकोटि' कहकर निर्देश किया करते थे, निरंजन उनमें एक थे। उनका जन्म पश्चिम बंगाल जिले के चौबीस परगना जिले के राजारहाट-विष्णुपुर नामक ग्राम में सम्भवतः १८६२ ई. की श्रावण पूर्णिमा को हुआ था। एकबार श्रीरामकृष्ण ने भाव-जगत में निरंजन को तीर-धनुष खेलते हुए देखा था। बाद में इसके बारे में उन्होंने कहा था कि वे श्रीरामचन्द्र के अंश से अवतीर्ण हुए हैं।

पृथ्वी पर जितने बड़े संत-महात्मा आदि हुए हैं, संसारी लोग उनके ऐश्वर्य, सिद्धि आदि को ही देखते हैं, पर उसके पीछे उनको कितनी साधनाएं करनी पड़ी हैं, कितनी यातनाओं से गुजरना पड़ा है, उस ओर किसी की दृष्टि नहीं जाती। श्रीरामकृष्ण निरंजन को साधना सम्बन्धी उपदेश देते थे, उन्होंने एकबार उनको मंत्र-दीक्षा भी दी थी। परवर्तीकाल में इस घटना का उल्लेख कर लाटू महाराज, श्रीरामकृष्ण के संन्यासी शिष्य ने कहा था – "एक दिन ठाकुर ने भावावेश में निरंजन भाई को स्पर्श कर दिया। इस पर तीन दिन और तीन रात तक उसकी आँखों की पलकें नहीं झपकी थीं। वह सतत ज्योति-दर्शन कर रहा था और जप किये जा रहा था। तीन दिन तक उसकी जीभ से जप न छूटा।..."

श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे कि साधक का मन और मुख एक होना चाहिए। भीतर एक भाव और बाहर विपरीत भाव का पोषण करने से साधना में प्रगति नहीं होती। वे निरंजन के बारे में कहते, "यह लड़का बड़ा सरल है। सरलता पूर्वजन्मार्जित बहुत बड़ी तपस्या का फल है। कपटाचार, पटवारी बुद्धि, इन सबके रहते ईश्वरप्राप्ति नहीं होती।" निरंजन ने एकबार उन्हें कहा था कि उनके मन में कभी भी स्त्री के विचार नहीं आते और वे विवाह भी नहीं करना चाहते।

श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के बाद सम्भवतः १८८७ के प्रारम्भ में निरंजन वराहनगर मठ में सम्मिलित हुए तथा संन्यास लेकर स्वामी निरंजनानन्द नाम से परिचित हुए। इसके बाद वे अनेक स्थानों पर तीर्थ-दर्शन और तपस्या करने गए। काशी में रहते हुए वे माधुकरी द्वारा भिक्षा पर ही निर्भर रहते। श्रीरामकृष्ण के उपदेशों के प्रचार के लिए वे श्रीलंका भी गये थे। उनके कार्य की प्रशंसा करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने लिखा था, "निरंजन इस समय ऐसा कार्य कर रहा है कि तुम लोग सुनकर अवाक रह जाओगे...उसने सिंहल आदि स्थानों में काफी कार्य किया है।"

रामकृष्ण संघ रूपी विशाल वट वृक्ष का बीजारोपण श्रीरामकृष्ण के द्वारा हुआ था। किन्तु इस बीज के अंकुरण, सिंचन, संवर्धन की पार्श्व भूमिका में श्रीमाँ सारदादेवी के अथक प्रयत्न और उनकी अहैतुक कृपा-दृष्टि थी। रामकृष्ण संघ में वे संघ-जननी के रूप में पूजी जाती हैं। साक्षात् जगज्जननी ने माया के आवरण से स्वयं को आच्छन्न कर, जगत में मातृत्व का आदर्श स्थापित करने के लिए एक छोटे से गाँव में जन्म लिया था। उस समय अनेक भक्त माताजी को केवल गुरू-पत्नी के रूप में ही मानते थे। माँ के स्वरूप के बारे में अवगत होते हुए भी लोग अपना भाव व्यक्त नहीं करते थे। किन्तु निरंजनानन्द निस्संकोच भक्तों के बीच माँ की महिमा का बखान करते थे। श्रीमाँ सारदादेवी के प्रति स्वामी निरंजनानन्द की असीम श्रद्धा थी। स्वामी विवेकानन्द ने अपने पत्र में इसका उल्लेख किया है, "निरंजन लठ्ठबाजी करता है, परन्तु माँ के प्रति उसकी बड़ी भक्ति है। उसकी लाठी हजम हो जाती है।"

अन्तिम दिनों में वे हरिद्वार के एक किराये के मकान में तपस्या में रत रहते थे। उन्हें अतिसार का रोग हो गया था। रोग क्रमशः बढ़ता ही गया, स्वास्थ्य में कोई सुधार न हुआ। ९ मई, १९०४ को गंगा-तट पर उन्होंने इस मर्त्य-लोक से विदा ली।

(स्वामी निरंजनानन्द जी के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिये 'भक्तमालिका' का अध्ययन करें।) ❑❑❑

सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा कैसी हो?

डॉ. शोभाकान्त झा

(विख्यात् चिन्तक डॉ. शोभाकान्त झा जी ने यह लेख १४ वर्ष पहले लिखा था। कुछ वर्षों में हमलोगों ने कुछ योजनाओं के द्वारा सार्वजनिक शिक्षा का विकास किया। अभी प्रशासनिक सक्रियता, व्यवस्था बढ़ी है, पाठ्यक्रम बदले हैं, शिक्षा के उपकरण उपलब्ध हैं और हमने बहुत से लक्ष्यों को प्राप्त भी कर लिया है। लेकिन आज भी शिक्षा के मूल लक्ष्य को हम पूर्णत: प्राप्त नहीं कर सके हैं। यह निबन्ध हमें शिक्षा के मूल लक्ष्य-प्राप्ति और अधूरे कार्यों को पूर्ण करने की प्रेरणा देता है।) – संपादक

शिक्षा की परम्परा मानव-जीवन के प्रारम्भिक काल से ही चलती आई है। सभ्यता तथा विकास के जिस स्तर पर भी हो, मानव विवेक के उपयोग के साथ ही अथवा किसी-न-किसी मार्ग को पकड़ कर अपने जीवन को दिशा प्रदान करता है। मानव एक सामाजिक प्राणी है। उसका जीवन समाज के साथ चले, तो उसे आनन्द होता है। उसमें यदि विशेषता हो, इच्छाशक्ति हो, सकल्प की दृढ़ता हो, तो मानव चाहता है कि समाज उसके साथ चले। यदि कथनी और करनी में समानता है, जितना करता है, उतना ही कहता है, जो करता है, उसमें केवल अपनी सुविधा अथवा भलाई का विचार नहीं करता, बल्कि उसका कार्य समाज के लिये होता है, तो वह अनायास ही समाज का पथ-प्रदर्शक बन जाता है। यहीं से गुरु और शिष्य-परम्परा का सूत्रपात होता है। इस प्रकार से विशिष्ट समाज में, विशिष्ट अवसर पर, विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त एक विशिष्ट शिक्षा पद्धति चल पड़ती है। जो पद्धति परिस्थितियों के अनुकूल अपने आपको विकसित करती हुई, अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण रखती है, वही जीवित रहती है। शिक्षा सदा ही समाज के नेतृत्व करनेवालों के आदेशों के उपयुक्त ही होती है। शिक्षा-पद्धतियाँ प्रदर्शित करती हैं कि उनसे किस प्रकार के व्यक्ति उत्पन्न होंगे। साथ ही शिक्षा के संचालकों को जिस प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, वे अपनी पद्धति में उसी प्रकार के साधनों को जुटाते हैं, जिनसे अपेक्षित व्यक्तियों की प्राप्ति हो। राष्ट्र के शासन में समाज का प्रतिबिम्ब देखा जाता है। अतएव समाज का भला-बुरा शिक्षा पर ही निर्भर करता है। कहा गया है कि शिक्षा का मौलिक उद्देश्य बच्चों का सर्वांगीण विकास करना है। महात्मा गाँधी के अनुसार शिक्षा का सर्वमान्य उद्देश्य चरित्र निर्माण करना है।

स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में गाँधीजी ने देख लिया था कि अँग्रेजों द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-पद्धति भारतीय जन-मानस के लिये निरर्थक है, जबकि अँग्रेजों ने भारत की शिक्षा को सुदृढ़ करने एवं अपने अनुसार प्रभावित करने के लिये मैकाले की शिक्षानीति १८३५ ई., हरटांग आयोग १९२८ ई. एक्ट और बुड समिति १९३६ ई., सार्जेण्य शिक्षा आयोग १९४४ ई. का गठन किया था। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात् डॉ. राधाकृष्णन् आयोग १९४९ ई., मुदालियर आयोग १९५३ ई., कोठारी शिक्षा आयोग, १९६६ ई. एवं नई शिक्षा नीति १९८६ ई. के द्वारा शिक्षा को आदर्श के अनुरूप जन-जन तक पहुँचाने का कार्य किया गया, लेकिन परिणाम जितना आना चाहिये, उतना नहीं आ सका। भारतीय संविधान के अनुच्छेद ४५ में स्पष्ट निर्देश है कि ६-१४ आयु वर्ग के सभी बच्चों को अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा उपलब्ध करायी जाय। आजादी के ५२ वर्ष बीत जाने के बाद भी उक्त वय वर्ग की आधी आबादी अभी विद्यालय से बाहर है। धारा - ४५ की व्याख्या करते हुये माननीय उच्चतम न्यायालय के द्वारा कहा गया है कि ६-१४ आयु वर्ग के सभी बच्चों को प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने का मौलिक अधिकार है। बिहार की आबादी के अनुसार ६-१४ आयु वर्ग के बच्चों के मात्र ६० प्रतिशत बच्चे ही प्राथमिक विद्यालयों में नामांकित हैं। इस प्रकार ४० प्रतिशत से अधिक बच्चे अभी भी विद्यालय से बाहर हैं। अभी ऐसे टोले अथवा गाँव हैं, जिनकी आबादी ३०० से अधिक है, लेकिन वहाँ प्राथमिक विद्यालय नहीं है।

वर्तमान परिस्थिति में नामांकन से ज्यादा महत्वपूर्ण पढ़ाई को जारी रखना है। आँकड़ों के अनुसार जो सौ बच्चे प्राथमिक विद्यालय के प्रथम वर्ग में नामांकित होते हैं, उनमें मात्र ३५ बच्चे ही पाँचवीं कक्षा तक की शिक्षा पूरी करते हैं तथा आठवीं कक्षा तक पहुँचते-पहुँचते १५ बच्चे ही विद्यालय में रह जाते हैं। बालिकाओं की स्थिति इससे भी भयानक है। इस समस्या पर कैसे काबू

पाया जाय? यह एक बड़ी समस्या है । आखिर ऐसा क्यों हो रहा है? यदि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो, पाया जायेगा कि विद्यालयों के पास पर्याप्त कमरे नहीं हैं, शिक्षकों की संख्या छात्रों के अनुपात में नहीं है । विद्यालयों में श्यामपट एवं शिक्षण सामग्रियों का अभाव है । विद्यालयों में शैक्षिक वातावरण नहीं है । शिक्षकों में उचित प्रशिक्षण का अभाव है, जिससे वांछित योग्यता की कमी है । निरीक्षक पदाधिकारीगण निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण की प्रभावकारी भूमिका का निर्वहन नहीं करते हैं । पाठ्यक्रम बोझिल है, जिससे प्राथमिक शिक्षा का न्यूनतम अधिकतम स्तर की समाप्ति बच्चों में नहीं हो पाती है ।

राष्ट्र के कर्णधार बच्चों के लिये शिक्षा का उद्देश्य – मानव-जीवन को उन्नत और बेहतर बनाने के लिये आवश्यक मानव शक्ति के विकास की प्रक्रिया है । सच्ची एवं नैतिक शिक्षा से ही आन्तरिक शक्ति के साथ-साथ शुद्ध उन्नत जीवन का क्रमिक विकास होता है । अतएव शिक्षा से जुड़े शिक्षक एवं शिष्य की अहं भूमिका सम्पूर्ण जन-मानस के चतुर्दिक विकास में निहित है । शिक्षा, शिक्षक और शिष्य को परिभाषित करने पर पाया जाता है कि **शिक्षा ओजस्वी, कर्मठ एवं प्रशिक्षित शिक्षक द्वारा क्रमबद्ध तकनीकी रूप से सम्पूर्ण विकास से ओत-प्रोत सामाजिक जीवन में उपयोगी, कार्यकुशल होते हुये चरित्र की महत्ता को सिद्ध कर निपुण, सजग, योग्य, सकुशल, मानसिक शक्ति से ईमानदारीपूर्वक विलक्षण प्रतिभा लिये, वैज्ञानिक युग में कन्धे-से-कन्धे मिलाते हुये तकनीकी एवं यांत्रिक क्रियाशीलन प्रदत्त कुशाग्र मेधावी तथा सहिष्णु नागरिक का निर्माण कर सम्पूर्ण भारत को एकता के अन्त:प्रवाह में संगठित होकर राष्ट्रीयता का हृदयंगम करे, वही सही, सच्ची, सफल, सरल, सहज, सुगम एवं सुबोध शिक्षा है ।**

विशेषकर ६-१४ आयु वर्ग के बच्चों का मस्तिष्क कोमल एवं कोरा कागज के समान होता है । छात्र शिक्षक को जिस रूप में देखता है, वह उसी का अक्षरश: अनुकरण एवं अनुपालन करता है । महात्मा गाँधी के अनुसार, यदि घड़ा टेढ़ा-मेढ़ा बनता है तो उसमें मिट्टी का दोष नहीं है । कहने का तात्पर्य यह है कि छात्र कच्चे घड़े के समान है, उन्हें शिक्षक जिस रूप में ढालना चाहे ढाल सकता है । किसी विद्यालय की सफलता मूलत: शिक्षक की व्यावसायिक क्षमता और नि:स्वार्थ सेवा पर निर्भर करती है । जहाँ साधारण शिक्षकों को भुला दिया जाता है, वहाँ उत्तम और निम्न श्रेणी के शिक्षकों को उनके द्वारा निभायी गयी भूमिका के कारण याद रखा जाता है । स्वामी विवेकानन्द के अनुसार सच्चा शिक्षक वही है, जो अपनी आत्मा को शिष्य की आत्मा में प्रविष्ट करा देता है, वही सही अर्थों में पढ़ाने के योग्य है । **योग्य शिक्षक वही है, जिसको अपने विषयों में निपुणता प्राप्त हो तथा जो अपने विचारों को बहुत अच्छी तरह समझा सके तथा शिष्य को विचार करने के योग्य बना सके । कर्मठ शिक्षक सदा नये विचारों की खोज में रहता है और उसे अपने कार्य में ढालने का भरपूर प्रयत्न करता है । उसके लिये यह आवश्यक है कि वह सदा ज्ञान अर्जित करने की दिशा में प्रयत्नशील रहे और शिक्षा के क्षेत्र में जो नये प्रयोग हो रहे हैं, जो नयी प्रवृत्तियाँ उभर रही हैं उनका चिन्तन-मनन करे, एवं अच्छी बातों को कार्य रूप में उतारे ।**

आजादी के बाद से शिक्षा में कई प्रयोग हुए । प्रयोगकर्ता यह भूल गये कि भारत गाँवों का देश है । गाँवों में जाकर गाँवों के सम्यक अध्ययन करके ही शिक्षा को जन-जन तक पहुँचा कर समतामूलक समाज की स्थापना की जा सकती है । आजादी के पूर्व महात्मा गाँधी ने १९३७ ई. में डॉ जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में राष्ट्रीय प्राथमिक शिक्षा की आधारशिला रखी थी । सकारात्मक प्रयोग हुए थे । सफलता भी मिली थी, लेकिन विकसित देशों की शिक्षा की नकल करने के विचारों से प्रभावित व्यक्तियों के द्वारा राष्ट्रीय प्राथमिक शिक्षा, जो स्वावलम्बी शिक्षा से ओत-प्रोत थी, नष्ट कर दी गयी । परिणामस्वरूप अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा का लक्ष्य प्राप्त करने की अवधि संविधान के लागू होने से दस वर्ष की थी, लेकिन अभी तक अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का लक्ष्य प्राप्त करना संभव नहीं हो सका है, जबकि सर्वांगीण विकास की पहली एवं अनिवार्य पूर्ति, उनकी आवश्यकता की वस्तु शिक्षा है ।

शिक्षा से ही समतामूलक समाज का निर्माण, शोषण एवं दासता से मुक्ति, अन्धविश्वास को समाप्त करने की प्रेरणा, (शेष भाग पृष्ठ ३८५ में देखें)

श्रीकृष्ण की जीवन-बाँसुरी

प्रोफेसर डॉ. विकल गौतम

हम संसार में युगों-युगों से देखते आये हैं कि जो भी महत्वपूर्ण व्यक्ति हुये हैं, वे अपने समय के बहुत पहले ही पैदा हुये हैं । आज हम जिन्हें भगवान कृष्ण कह रहे हैं, द्वापर युग में तो वे केवल एक ग्वाले के लड़के मात्र ही रहे हैं । कृष्ण अपने से कम-से-कम पाँच हजार वर्ष पहले पैदा हुये । जब हम व्यक्ति को समझने योग्य नहीं हो पाते, तब हम उसकी पूजा करना शुरु कर देते हैं । या तो हम उस युग में उसका विरोध करते हैं या फिर प्रशंसा करते हैं ।

श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व बहु-आयामी रहा है । हमारा सम्पूर्ण जीवन अच्छाइयों एवं बुराइयों से परिपूर्ण होता है । कृष्ण अकेले ही ऐसे व्यक्ति हैं, जो समग्र जीवन को स्वीकारते हैं । वे सब रंगों को स्वीकारते हैं । आज के युग के लिये कृष्ण की सिखावन, शिक्षाओं की अत्यन्त आवश्यकता है । सम्पूर्ण मानव जाति एक भय, एक आशंका, एक निराशा में डूबी अपना जीवन बिता रही है । संसार में भय और निराशा से उबरने के लिये यदि कोई व्यक्ति हमें नई राह, नव पथ बता सकता है, तो वह एकमात्र कृष्ण ही हैं, जो भादो के काले-काले बादलों से बरसती मूसलाधार वर्षा में मानव-शरीर ग्रहण करते हैं । कृष्ण हँसती खिलखिलाती हुयी मानवता को स्वीकार करते हुये पैदा होते हैं । नृत्य, गीत, संगीत और बाँसुरी की जीवन-तान किस थके-हारे व्यक्ति की सारी थकान दूर करने में संकोच कर सकती है भला? जीवन में सुख और दुख दोनों ही हैं । यह व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह किसे चुनता है? अगर कोई व्यक्ति प्रभात में खिले हुये ओस से नहाये हुये गुलाब को एक बार भी ठीक से देखकर प्रेमपूर्ण हो पाये तो, उसके साथ लगे हुये काँटे को उसकी आँखें देखना बन्द कर देती हैं । ऐसा नहीं है कि काँटे समाप्त हो जाते हैं, यूँ समझा जाता है कि काँटे भी गुलाब के साथी और मित्र बन जाते हैं । जो व्यक्ति काँटों को चुन लेता है, उसे फूल दिखायी पड़ना बन्द हो जाते हैं । फूल स्वप्नवत हो जाते हैं । उनके लिये दुखदायी सभ्यता मानवमात्र को आत्मघात की ओर ले जानेवाली है । कृष्ण के होठों पर रखी मुरली उनके व्यक्तित्व का ही एक अंग है । यह बाँसुरी कृष्ण ने अपने हाथों से अपने होठों पर सजायी है । इसमें जीवन के प्रति एक धन्यता, कृतज्ञता या अहोभाव का भाव है । कृष्ण का चुनाव जीवन में आनन्द का चुनाव है । जो कृष्ण को चुनता है, वह सारे जीवन में आनन्द को चुनता है । वह सारे जीवन में आनन्द ही बाँटता चला जाता है । कृष्ण क्षणजीवी हैं । प्रत्येक क्षण को जीना जानते हैं । जो आनन्दवादी होता है, वह क्षणजीवी हो पाता है । क्षण-क्षण की कड़ियाँ ही जीवन की डोर में परिवर्तित हो जाती हैं । कृष्ण की जीवन-यात्रा क्षण-क्षण की यात्रा है । जो बीत चुका है और जो आनेवाला है, ऐसा समय कृष्ण के लिये निर्मूल्य, व्यर्थ है । जो है, इस क्षण में इसी क्षण के प्रति अपने हृदय के कपाट खुले रखना आनन्द की प्रवृत्ति है । क्षण में यात्रा नहीं हो पाती, उसमें तो हम डूब भर सकते हैं । समय में यात्रा होती है । क्षण में हम लम्बे नहीं जा सकते, गहरे उतर सकते हैं । क्षण में डुबकी लगाई जा सकती है । जो क्षण में डूबना जानता है, वह समयातीत बन जाता है । यही क्षण शाश्वत में रूपायित हो जाता है ।

कृष्ण की दृष्टि में जो जीवन को विकसित करे, जो जीवन को खिलाये, जो जीवन को नृत्य की घूमर में छोड़ दे, जो बाँसुरी की तान में समग्र रूप में समर्पित हो जाय, जो जीवन को आनन्दित करे, वही जीवन का सच्चा धर्म है । जीवन के आनन्द में बाधा बने, जीवन के खिलने में, प्रस्फुटित होने में जो बाधक हो, वह सभी कुछ अधर्म है ।

जो व्यक्ति जो भी भाव लेकर कृष्ण के करीब पहुँचते हैं, उसी रूप में वे कृष्ण की आराधना करने लगते हैं । सूरदास को कृष्ण की बाल लीला ने मुग्ध कर दिया । भागवत का कृष्ण और उसकी गोपियों की विरह व्यथा को चैतन्य ही समझ सके थे । तभी उन्होंने नारी-भाव में डूबकर उस एकमात्र पूर्ण पुरुष कृष्ण की साधना में भौतिक संसार को भुला दिया था । भागवत की चर्चा करनेवाले पंडित गीता की चर्चा नहीं करते, क्योंकि कहाँ प्रेम की अथाह

गहराइयाँ और कहाँ खून के महासागर में उतराती लाशों का अम्बार ! महासमर की बात गीता करती है, यह महासमर – यह कुरुक्षेत्र बाहर का नहीं प्रत्येक मानव के भीतर का है । **कृष्ण का व्यक्तित्व धर्मयुद्ध को भी एक खेल मानता है । इस तरह जीवन की, सारी दिशायें, चाहे राग की हो, भोग की हो, काम की हो, योग की हो या ध्यान की समस्त दिगन्तों में कृष्ण की इसी जीवन बाँसुरी का संगीत सुनाई देता है ।** यह जीवन की मुरली प्रत्येक प्राणी को अपने अस्तित्व में समेट लेती है । कान्हा की इस बाँसुरी की दिवानी केवल राधा, गोपिकायें और ग्वाले ही नहीं हैं, इसमें तो सारा जड़-चेतन संसार ही डूबना चाहता है । ❑❑❑

(नवभारत, बुधवार, २० अगस्त, २००३ से साभार)

(पृष्ठ ३८३ का शेष भाग)

वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने की क्षमता, बहुमूल्य सांस्कृतिक धरोहर तथा पर्यावरण संरक्षण, अनेकता में एकता की भावना, सांप्रदायिक समभाव की प्रवृति एवं भारतीय लोकतांत्रिक प्रणाली की सफलता संभव है । जब तक राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति शिक्षित नहीं हो जाता, तब तक राष्ट्रीय लक्ष्यों की सम्प्राप्ति नहीं हो सकती । इसके लिये राष्ट्र के कर्णधार स्वर्ग के फूल, देवता समान ६-१४ आयु वर्ग के बच्चों को केन्द्रित करते हुए शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी । ❑❑❑

(हिन्दुस्तान पटना, मंगलवार २६ सितम्बर, २००० से साभार)

'रामकृष्ण' नाम और नाम-साधना

स्वामी चेतनानन्द

श्रीरामकृष्ण धर्म-जगत में एक विलक्षण पुरुष हैं । 'रामकृष्ण' नाम आज विश्व के अगणित मनुष्यों के मुख से प्रतिदिन उच्चरित हो रहा है । कोई उनका नाम जप रहा है, कोई उनकी बातें कहकर या सुनकर आनन्द पा रहा है, तो कोई उस नाम के पीछे जो सत्ता है, उसे जानने का प्रयास कर रहा है । रोमॉं रोलॉं ने बहुत सुन्दर ढंग से श्रीरामकृष्ण की जीवनी का उपसंहार किया है, "वे (श्रीरामकृष्ण) भौतिक रूप से इस संसार में नहीं हैं, किन्तु उनकी आत्मा मनुष्य के समष्टिगत जीवन के रग-रग में प्रवाहित हो रही है ।"

श्रीरामकृष्ण नाम-यश से घृणा करते थे । वे अपना प्रचार बिल्कुल ही पसन्द नहीं करते थे । वे अपने दिव्य जीवन-यापन से ही प्रसन्न थे । उनके शिष्य मनोमोहन मित्र प्रत्यक्ष देखी हुई एक घटना का उल्लेख करते हैं – "एकत्रित भक्तों को ठाकुर पंचवटी में उपदेश दे रहे हैं । तभी केशवबाबू कुछ भक्तों के साथ वहाँ उपस्थित हुए । विभिन्न चर्चाओं के बाद केशवबाबू ने ठाकुर से अनुरोध किया, 'यदि आप अनुमति दें, तो आपके उपदेशों का मैं जनसामान्य में प्रचार-प्रसार कर दूँ । इससे बहुत लोगों का उपकार होगा । आपकी शिक्षाओं का जितना प्रचार होगा, उतना ही मंगल होगा ।' इस पर ठाकुर अर्धबाह्य अवस्था में अपना दाहिना हाथ उठाकर दृढ़स्वर में बोले, "इसके भीतर जो भाव है, जो शक्ति है, उसे अभी प्रचार करने की आवश्यकता नहीं है ।' इसे व्याख्यान या समाचार-पत्रों द्वारा भी प्रकाशित नहीं करना पड़ेगा । समय आने पर चारों ओर अपने आप प्रचार हो जाएगा । तब सैकड़ों हिमालय पर्वत द्वारा ढँकने पर भी इसकी शक्ति, इसके भाव को कोई नहीं रोक सकेगा ।"[१]

श्रीरामकृष्ण मानो एक सदाबहार पुष्प हैं । इस पुष्प में रूप है, रंग है, सुगंध है और यह मधुमय है । रामकृष्ण-मधुपान करने के लिये दूर-दूर से मनुष्य उनकी साधनास्थली दक्षिणेश्वर के मंदिरोद्यान जा रहे हैं । इस मधुमय अमृत का पान कर लोग कह रहे हैं, **"हृष्यामि च मुहुर्मुहुः, हृष्यामि च पुनः पुनः" –** बार-बार हर्षित हो रहा हूँ, कृतकृत्य हो रहा हूँ । वचनामृतकार श्रीम सदैव रामकृष्ण-सुधा का पान करके आनन्द में मग्न रहते थे एवं भाव-विभोर होकर भक्तों को उसी नामामृत का वर्षण करते थे । वे अपनी कल्पना से अपने प्रियतम गुरु की छवि चित्रित करते

थे – ''ठाकुर मानो एक सुन्दर फूल हैं, उसका स्वभाव ही खिलकर सुगंध फैलाना है। वे मानो ज्वलन्त अग्नि के पुंज हैं और उससे ही अन्यान्य छोटे प्रदीपों को जलाया गया है। ठाकुर मानो पाँच वर्ष के शिशु के सदृश हैं, सदा अपनी माँ के लिये व्याकुल हैं। वे मानो एक स्वर्गीय वीणा हैं, स्वयं माँ के गुणगान में सदा मत्त हैं। वे मानो एक बड़ी मछली हैं, सच्चिदानन्द सागर में आनन्दमग्न होकर महासुख में तैर रहे हैं। तूफान के समय पक्षी की भाँति सब आश्रय-स्थल टूट जाने पर वे जैसे अनन्त के द्वार पर बैठकर अपने सुख में अनन्त का गुणगान कर स्पन्दित हैं।''[२]

रामकृष्ण नाम का अर्थ

शब्द या नाम के साथ अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। अर्थ दो प्रकार के होते हैं – शब्दार्थ और भावार्थ। 'रामकृष्ण' नाम का शब्दार्थ – रामकृष्ण रूपी देहधारी मानव-विशेष से है। वे क्षुदिराम और चन्द्रामणि के पुत्र, दक्षिणेश्वर मंदिर के पुजारी हैं इत्यादि। 'रामकृष्ण' शब्द का भावार्थ है – वे 'सच्चिदानन्द' 'स्वाधीन ईश्वर, 'अवतारवरिष्ठ' हैं।

नाम-जप के समय अर्थ का बोध होने पर नाम के महत्व की विशेष रूप से उपलब्धि होती है एवं भीतर आनन्द भी होता है। काशी के एक पण्डित-संन्यासी स्वामी भागवतानन्द गिरि श्रीरामकृष्ण शताब्दी के उपलक्ष्य में 'रामकृष्ण' नाम के गूढ़ार्थ का उल्लेख करते हैं, ''यह 'रामकृष्ण' नाम साधारण दृष्टि से देखने-सुनने में छोटा प्रतीत होता है, किन्तु विचार की दृष्टि से देखने पर यह बड़ा रहस्यमय प्रतीत होता है। जैसे – '**रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः, कर्षति भक्तानाम् दुःखम् पापम् मनो वेति कृष्णः** ' – योगी लोग जिनमें रमण करते हैं, वे ही राम हैं एवं जो भक्तगणों के दुःख या पाप लेकर नष्ट कर देते हैं, अथवा अपने भक्तों के मन को अपनी ओर आकृष्ट करके अपनी भक्ति में तल्लीन कर देते हैं, वे ही कृष्ण हैं। श्रीराम और श्रीकृष्ण धरती का भार दूर करने के लिये अपने-अपने युगों में अवतीर्ण हुए थे। उन दोनों का ही एकत्र समावेश इस समय इस (रामकृष्ण) नाम में हुआ है।

'राम' नाम बहुत रहस्यात्मक है। जब राजा दशरथ के घर में राम ने अवतार लिया, तब राजा ने कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ को आमन्त्रित कर कहा, 'हे गुरुदेव, इस बालक का नामकरण कीजिये।' वशिष्ठ जी ने 'राम' एक छोटा सा नाम रख दिया। तब दशरथ जी और मंत्रियों ने कहा कि यह तो बहुत छोटा-सा नाम है, कोई 'दूना' नाम होना चाहिये, जो नाम चक्रवर्ती राजा के पुत्र के योग्यतानुसार हो। वशिष्ठ जी बोले, 'हे राजन, 'राम' नाम की महिमा आप नहीं जानते हैं। सुनिए – 'राम' शब्द में जो 'रा' अक्षर है, वह 'नमो नारायणाय' इस सुप्रसिद्ध वैष्णव मंत्र का प्राण है। इससे 'रा' अक्षर पृथक करने पर 'नमो नायनाय' हो जाता है (रेफ के र के कारण 'ण' हो जाता है, यह व्याकरण का नियम है)। इसका अर्थ होता है – 'रूपरसादि विषयों को नमस्कार।' 'रा' अक्षर को अलग कर देने से ऐसा गलत अर्थ हो जाता है। इसी प्रकार 'राम' शब्द का म-कार भी 'नमः शिवाय' मंत्र का जीवन है, प्राणशक्ति है। राम का म-कार 'नमः शिवाय' में विद्यमान है। 'नमः शिवाय' से 'म' को पृथक करने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। 'नमः शिवाय' मंत्र का अर्थ होता है – कल्याण स्वरूप शिव को प्रणाम। किन्तु म-कार हटा देने पर 'न शिवाय' का अर्थ अकल्याण हो जाता है अर्थात् जो कल्याण हेतु नहीं, दुःख या अमंगल के लिये है। इस प्रकार जब वशिष्ठ जी ने राम-नाम का रहस्य समझा दिया, तब दशरथ जी अत्यन्त प्रसन्न हो गये। यही 'राम' नाम श्रीरामकृष्ण के नाम में भी है।

'कृष्ण' पद का आध्यात्मिक अर्थ है –

'कृषि भूर्वाचकः शब्दो नश्च निर्वृति वाचकः ।
तयोरैक्यम् परम् ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ।।

कृष् धातु का अर्थ त्रिकाल-आराध्यस्वरूप ब्रह्म है। न प्रत्यय का अर्थ है सुख – आनन्दस्वरूप ब्रह्म। सत् एवं आनन्द का जो अभेद सदानन्दस्वरूप ब्रह्म है, वही इस 'कृष्ण' शब्द का अर्थ हुआ। जिस सद्रूप ब्रह्म को छोड़ देने पर किसी भी वस्तु को 'अस्ति' (है), ऐसा नहीं कह सकते, जिस आनन्द को छोड़ देने पर हम किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं कर सकते – वही 'सत्' और 'आनन्द' (सुख) ही 'कृष्ण' शब्द का अर्थ है। यही 'कृष्ण' 'रामकृष्ण' नाम में भी विद्यमान है, उसकी महिमा अवर्णनीय है।''[३]

जिस नाम का आश्रय लेकर जीवनयापन करना होगा, उस नाम का अर्थ और व्याख्या जानने की विशेष आवश्यकता है, क्योंकि इससे घनिष्ठता प्रगाढ़ होती है।

कर्म, उपासना, जप और ध्यान के द्वारा हम जिनसे एकाकार होना चाहते हैं, वे कौन हैं, उनका स्वरूप कैसा है, इस सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा होने से जीवन में रसानुभूति होती है। श्रीरामकृष्ण ने अपने देह-त्याग के दो दिन पूर्व स्वामीजी से कहा था, "सच सच कहता हूँ, जो राम, जो कृष्ण, वही इस शरीर में रामकृष्ण हैं, लेकिन तुम्हारे वेदान्त की दृष्टि से नहीं।" स्वामी तुरीयानन्द जी ठाकुर की इस उक्ति की व्याख्या करते हुए कहते हैं – "इसका अर्थ यही है कि वेदान्त के अद्वैत मतानुसार जीव और ब्रह्म एक है। इसका अर्थ कोई-कोई इस प्रकार करते हैं कि सभी राम, कृष्ण हैं, इत्यादि, उनमें कोई विशेषता नहीं है। इसलिये बाद में स्वामीजी कहीं ऐसा न सोचें कि ठाकुर ने उसी भाव से कहा था, "जो राम, जो कृष्ण, वही अभी रामकृष्ण हैं।" इसलिये ठाकुर ने उल्लेख किया, "तुम्हारे वेदान्त की दृष्टि से नहीं।" अर्थात् उनका ईश्वर-चैतन्य, जीव-चैतन्य नहीं है। अद्वैत मत में जीव साधन, भजन, समाधि इत्यादि द्वारा अज्ञान दूर करके ब्रह्मभाव को प्राप्त करके ब्रह्म के साथ अभिन्न हो सकता है, किन्तु सहस्त्र प्रयास करने पर भी जीव ईश्वर नहीं हो सकता। जो ईश्वर हैं, वे चिरकाल ईश्वर ही रहेंगे। वे मनुष्य देह धारण करके जीव की तरह प्रतीत होने पर भी ईश्वर ही रहते हैं, कभी भी जीव नहीं होते।"[४]

नाम और रूप

वेदान्त के अनुसार –

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यत्रयम् ब्रह्मरूपम् जगद्रूपं ततो स्वयम्।।

– सत्ता, प्रकाश, आनन्द, रूप और नाम, ये पाँच अंश देखे जाते हैं। इनमें से प्रथम तीन ब्रह्म के स्वरूप हैं, नाम और रूप ये दो जगत के स्वरूप हैं।* (वाक्य सुधा २० श्लोक) ब्रह्म ही सत्य है अर्थात् तीन कालों में विद्यमान हैं। नामरूपात्मक जगत मिथ्या या माया है। इसलिये राम, कृष्ण, रामकृष्ण, काली, शिव इत्यादि नाम और रूप मिथ्या हैं। अतएव इनका अवलम्बन करना निरर्थक है। हम श्रीरामकृष्ण के जीवन में देखते हैं कि वे निर्विकल्प समाधि के पहले ज्ञान-खड्ग से अपनी आराध्या देवी माँ काली के रूप को काट दिये थे।

शास्त्र कहते हैं कि नाम-रूप की पारमार्थिक सत्ता नहीं है, किन्तु व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ता है। पारमार्थिक दृष्टि से गुरु, शिष्य, मंत्र और अज्ञान मिथ्या या अविद्यमान है। किन्तु मिथ्या गुरु, मिथ्या शिष्य के मिथ्या अज्ञान को मिथ्या मंत्र द्वारा नष्ट कर देते हैं। ठीक वैसे ही मिथ्या डॉक्टर मिथ्या रोगी के मिथ्या व्याधि को मिथ्या औषधि द्वारा निरोग कर देते हैं। सत्य तो यह है कि ब्रह्म ही सब हुए हैं। वे ही साँप होकर डसते हैं एवं ओझा होकर विष निकाल लेते हैं। ये सब उनकी लीला है।

नाम-रूप के आश्रय ब्रह्म हैं। ब्रह्म ही नाम-रूप में प्रकाशित हुए हैं। अद्वैतवाद की दृष्टि से '**सर्वम् खल्विदं ब्रह्म**', '**ईशावास्यमिदं सर्वम्**' एवं द्वैतवादी की दृष्टि से 'जहाँ-जहाँ दृष्टि जाती है, वहाँ-वहाँ कृष्ण का स्फुरण होता है।' हम नाम-रूप के राज्य में निवास करते हैं। अब हमें ऐसे नाम-रूप का अवलम्बन करना होगा, जिससे हम इस माया राज्य से पार हो सकें। राम, कृष्ण, रामकृष्ण इत्यादि अवतार नाम-रूपरहित ब्रह्म में पहुँचाने के द्वार हैं। उपनिषद में शब्द-ब्रह्म को अपराविद्या कहा गया है। "**शब्दब्रह्मणि निष्णातः परम् ब्रह्माधिगच्छति**" — अर्थात् अपरा विद्या में निपुण होने पर परब्रह्म को प्राप्त किया जाता है। स्वामी शिवानन्द लिखते हैं, "यह रामकृष्ण-नाम, यह रामकृष्ण रूप ही उनके उस नाम- रूपातीत शान्तिमय अवस्था तक ले जाता है।"[५] (क्रमशः)

संदर्भ - १. भक्त मनोमोहन पृ. (५८-५९) **२.** उद्‌बोध, ३९ वाँ वर्ष पृ.४५२, **३.** उद्बोधन, ३८ वाँ वर्ष, पृ.५०१-५०२ **४.** स्वामी तुरीयानन्द देर पन्त, प-. ३२७ **५.** महापुरुषजीर पत्रावली, पृ. २५३ **(बंगला से अनुवाद - ब्रह्मचारी पावनचैतन्य)**

स्वतंत्रता दिवस के उपलक्ष्य में

स्वतंत्रता पुकारती

जयशंकर प्रसाद

हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती।
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती।।
अमर्त्य वीर-पुत्र हो दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य पंथ है बढ़े चलो, बढ़े चलो।।
असंख्य-कीर्ति रश्मियाँ विकीर्ण दिव्य दाह-सी।
सपूत मातृभूमि के रुको न शूर साहसी।।
अराति-सैन्य-सिन्धु में सुबाड़वाग्नि से जलो।
प्रवीर हो जयी बनो बढ़े चलो, बढ़े चलो।।

श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग शिष्य स्वामी अद्वैतानन्द

दु:ख, असफलता, निराशा मनुष्य को ऐसे घनान्धकार के गर्त में ले जाते हैं कि वह सोच नहीं पाता कि अपना अगला कदम किस दिशा में बढ़ायें । कुछ लोग तो हमेशा के लिये सुखी जीवन की आशा छोड़ देते हैं, किन्तु कुछ के लिये यह दु:ख ईश्वर की महती कृपा के रूप में आकर परम-सुख में परिवर्तित हो जाता है । कुरुक्षेत्र के युद्ध में जब अर्जुन देखता है कि उसे अपने बन्धु-बान्धवों से ही लड़ना पड़ेगा, तब किंकर्तव्य-विमूढ़ और विषादग्रस्त होकर वह युद्ध नहीं करने का निर्णय दे देता है । अर्जुन का यह विषाद और उसके निरसन हेतु श्रीकृष्ण का योग-संदेश ही विषाद-योग बन जाता है, जो आज भी असंख्य मनुष्यों को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रेरणा प्रदान करता है ।

गोपालचन्द्र घोष की पत्नी का देहान्त हो गया था । वे कलकता स्थित सींथी के निवासी थे । उस समय उनकी आयु पचपन वर्ष की थी । पत्नी-वियोग के दु:ख में सान्त्वना प्राप्त करने के लिए वे उनके मित्र कविराज महेन्द्रपाल के पास गये, जो श्रीरामकृष्ण देव के भक्त थे ।

वे दोनों दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के पास गये । मित्र के साथ इस प्रथम दर्शन के समय गोपालचन्द्र को शोकनिवारण की कोई आशा नहीं जगी थी और श्रीरामकृष्ण के प्रति कोई विशेष आकर्षण भी अनुभव नहीं हुआ था । घर पहुँचने के बाद उन्होंने निश्चय किया कि वे फिर कभी श्रीरामकृष्ण के दर्शन के लिए नहीं जाएंगे । किन्तु उनके मित्र महेन्द्र ने उन्हें कहा, ''महापुरुषों को क्या एक दिन में पहचाना जा सकता है? भीतर का रहस्य समझ पाने के लिए उनके साथ घनिष्ठ रूप से मेल-जोल करना पड़ता है ।'' अत: वे पुन: अपने मित्र के साथ दक्षिणेश्वर गये ।

द्वितीय बार के साक्षात्कार में श्रीरामकृष्ण ने मानो एक उपयुक्त चिकित्सक की तरह उनके रोग-शोक का उपशम कर दिया । श्रीरामकृष्ण देव के वैराग्य सम्बन्धी उपदेश एवं ईश्वर-प्रेम की बातों से वे बहुत प्रभावित हुए । वे तृतीय बार फिर से श्रीरामकृष्ण से मिलने गये, बाद में इस भेंट का उन्होंने इस प्रकार विवरण दिया था, ''श्रीरामकृष्ण मेरे अन्त:करण में पूर्णतया आविष्ट हो गये थे । मैं दिन-रात उनका ही चिन्तन करता था । उनसे दूर रहने पर मेरा हृदय शोकाच्छन्न हो जाता । मैं कितने ही प्रयत्न क्यों न करूँ, पर उनके श्रीमुख को भुला पाना संभव न था ।'' क्रमश: उन्होंने श्रीरामकृष्ण को ही अपने जीवन का एकमात्र आश्रय बना लिया । वे उनसे लगभग आठ वर्ष बड़े थे, इसलिए भक्तों के बीच 'बूढ़े गोपाल' अथवा 'गोपालदा' के नाम से परिचित थे ।

गोपालदा अब दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण देव के साथ रहने लगे । गोपालदा की श्रीरामकृष्ण से मन्त्रदीक्षा पाने की इच्छा थी । एक दिन दोपहर में भोजन के पहले ठाकुर को उद्यान में अकेले टहलते देखकर गोपलदा ने उनके श्रीचरणों में अपने हृदय की आकांक्षा व्यक्त की । दूर से लाटू (स्वामी अद्भुतानन्द) ने देखा कि गोपालदा घुटने टेके हुए ठाकुर के चरण पकड़कर खूब रो रहे हैं । थोड़ी देर बाद ठाकुर ने उन्हें हाथ पकड़कर उठाया, तब भी गोपालदा की आँखों में आँसू थे । इसके बाद क्या हुआ, यह तो लाटू को पता नहीं चला, परन्तु इसके बाद से गोपालदा प्रतिदिन सन्ध्या समय विष्णु-मन्दिर में कीर्तन करते हुए दिखाई देने लगे ।

श्रीरामकृष्ण कार्य में लापरवाही बिल्कुल पसन्द नहीं करते थे । यदि व्यक्ति छोटे कार्यों के प्रति असावधान रहता है, तो जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी उसका व्यवहार वैसा ही होगा । एकबार ठाकुर पंचवटी गये, जहाँ कीर्तन की व्यवस्था की गई थी । गोपालदा ठाकुर की छत्री साथ लेकर चले । अचानक वहाँ आँधी-तूफान आ जाने से ठाकुर भक्तों के साथ वापस आ गये । श्रीरामकृष्ण ने गोपालदा से पूछा, ''क्या तुम छत्री वापस लाये हो?'' गोपालदा ने उत्तर दिया, ''नहीं महाशय, कीर्तन सुनते समय मैं सब भूल ही गया ।'' वे झट से पंचवटी की ओर गये और छत्री वापस ला दिये ।

गोपालदा से सम्बन्धित एक अविस्मरणीय घटना, जिसका सम्बन्ध रामकृष्ण संघ की स्थापना के साथ है । प्रत्येक वर्ष मकर-संक्रान्ति के समय देश भर से साधु और तीर्थयात्री गंगासागर आते थे । गोपालदा की इच्छा हुई कि गंगासागर यात्रा के निमित्त आये साधुओं को गेरुआ वस्त्र, रुद्राक्षमाला और चन्दन दिया जाए । ठाकुर को यह बात ज्ञात होने पर उन्होंने गोपालदा से कहा, '' यदि तुम यह गेरुआ वस्त्र और रुद्राक्ष-मालाएं यहाँ के त्यागी सन्तानों को दोगे, तो तुम्हें हजार गुना अधिक पुण्य फल प्राप्त होगा । क्योंकि इनकी अपेक्षा ऊँचे स्तर के साधु और कहाँ मिलेंगे? यहाँ के एक-एक साधु हजार के बराबर हैं ।'' गोपालदा ठाकुर की बात पर सहमत हुए और बारह गेरुए वस्त्र तथा उतनी ही रुद्राक्ष-मालायें आदि लाकर

ठाकुर के हाथ में दीं। ठाकुर ने उन्हें नरेन्द्र आदि भक्तों में बाँट दिया। यह रामकृष्ण संघ के लिए महत्वपूर्ण घटना है, क्योंकि इसी अनुष्ठान के भीतर भावी संन्यासी संघ का बीज निहित था।

ठाकुर की महासमाधि के बाद वे वराहनगर मठ में सम्मिलित हुए और संन्यास व्रत में दीक्षित होने के बाद उनका नाम स्वामी अद्वैतानन्द हुआ। उन्होंने वाराणसी, वृन्दावन, बद्रीनाथ, केदारनाथ आदि विभिन्न तीर्थ-स्थानों का दर्शन किया। स्वामी विवेकानन्द पाश्चात्य से लौटने के बाद रामकृष्ण संघ की स्थापना के कार्य में लग गए। स्वामी अद्वैतानन्द उस समय दीर्घकाल से काशी में तपस्या कर रहे थे। स्वामीजी के सप्रेम आह्वान पर वे शीघ्र ही लौट आये। बेलूड़ में गंगा-तट पर नवीन मठ के निर्माणार्थ कुछ दिन पहले ही एक जमीन खरीदी गई थी। इस नयी जमीन में पहले नावों तथा जहाजों की मरहम्मत हुआ करती थी, इसलिए उस समय वह बहुत ही उबड़-खाबड़ थी और भवन-निर्माण या निवास करने के उपयुक्त नहीं थी। स्वामी अद्वैतानन्द का प्रथम कार्य था - मजदूरों की सहायता से भूमि को समतल करना। वे पूरा मनोयोग देकर यह कार्य करने लगे। दोपहर को मठ में आकर भोजन करने में काफी समय व्यर्थ ही चला जाता है, यह देखकर वे कार्यस्थल में ही भोजन मँगवा लिया करते थे। इस प्रकार उनके एकनिष्ठ परिश्रम की सुदृढ़ आधारशिला पर ही रामकृष्ण संघ का प्रथम स्थायी मठ का निर्माण हुआ।

अन्तिम समय उन्होंने मृत्यु-शय्या पर देखा कि ठाकुर हाथ में गदा धारण किये उनके सम्मुख उपस्थित हैं। २८ दिसम्बर, १९०९ ई. इक्यासी वर्ष की आयु में स्वामी अद्वैतानन्द ने ब्रह्मलीन हो गये और परवर्ती संन्यासी संघ के लिए एक अनुकरणीय आदर्श-जीवन छोड़ गये। ❑ ❑ ❑

(स्वामी अद्वैतानन्द जी के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी के लिये 'भक्तमालिका' का अध्ययन करें।)

प्रस्तुति - स्वामी मेधजानन्द

सारी शक्ति तुम्हीं में है

तुम लोग सब कुछ कर सकते हो, यही विश्वास रखो। यह मत सोचो कि तुम लोग दुर्बल हो। दूसरों की सहायता के बिना भी तुम लोग सब कुछ कर सकते हो। सारी शक्ति तुम्हीं लोगों में हैं। उठ खड़े होओ। तुम्हारे भीतर जो देवत्व सुप्त है, उसे प्रकाशित करो। – स्वामी विवेकानन्द

युवकों की जिज्ञासा और उसका समाधान

स्वामी सत्यरूपानन्द

(स्वामी विवेकानन्द जी की १५०वीं जन्म-जयन्ती के उपलक्ष्य में और स्वामी विवेकानन्द रथ के भिलाई आगमन पर रामकृष्ण सेवा मंडल, भिलाई में ५ जनवरी, २०१४ को 'युवा-शिविर' का आयोजन कर विवेकानन्द उत्सव मनाया गया था, जिसमें ११०० युवक-युवतियों ने भाग लिया था। शिविर में शिविरार्थियों द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने दिये थे। उसे विवेक ज्योति के युवा-पाठकों के पथ-प्रदर्शन हेतु यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं)

१. श्रेष्ठ नागरिक बनने के लिये हमें क्या करना चाहिये? कंचन निर्मल, भिलाई

उत्तर – श्रेष्ठ नागरिक बनने के लिये सबसे पहले हमारे मन में देशभक्ति होनी चाहिये। हिमालय से कन्याकुमारी और असम से गुजरात तक के सभी भाग हमारी मातृभूमि के ही अंग हैं। भारतवर्ष हमारी माता है। देश के सर्वांगीण कल्याण में ही हमारा कल्याण निहित है। हम सब भारतीय हैं। इसलिये सभी भारतीय हमारे सम्बन्धियों के समान हैं। भारत के कल्याण में ही मेरा कल्याण है। भारत की उन्नति में ही मेरी उन्नति सम्भव और सम्मिलित है। भारत की सभी जातियों और सभी धर्मों के प्रति मेरी श्रद्धा है, मेरा सम्मान है। इन भावनाओं का पोषण करने पर ही हम भारत के सच्चे और अच्छे नागरिक बन सकेंगे।

२. घृणा की शक्ति से प्रेम की शक्ति क्यों अनन्त गुनी अधिक है? – इन्दु विश्वकर्मा

उत्तर – घृणा के पीछे घृणित वस्तु, व्यक्ति, स्थान आदि के विनाश की, उन्हें नष्ट करने की भावना रहती है तथा अवसर पाते ही व्यक्ति घृण्य वस्तु, व्यक्ति, स्थान आदि का विनाश करने में नहीं हिचकता। घृणा के मूल में क्षति तथा विनाश करने की भावना रहती है। परिणामस्वरूप घृणा का भाव सदैव ही शत्रुता तथा विनाशकारी भावों से पुष्ट होता रहता है। इसलिये वह अन्ततः शत्रुता एवं विनाश में ही परिणित हो जाता है। घृणा कभी भी रचनात्मक नहीं होती। बल्कि वह सदैव विनाशकारी ही होती है। घृणा विनाशकारक आसुरी वृत्ति है।

संसार के कई धर्मों में ईश्वर को प्रेमस्वरूप कहा गया है।

प्रेम ईश्वरीय शक्ति है । इसलिये वह सदैव रचनात्मक एवं निर्माणकारी शक्ति होती है । प्रेम का एक विशेष गुण अपनत्व की भावना है । प्रेम का ही परम विकसित रूप भक्ति कहलाती है, जो भक्त को ईश्वर तक पहुँचा देती है । प्रेम का दूसरा बड़ा गुण कल्याण की भावना है । प्रेम अपने विकसित रूप में जाति, धर्म, देश, स्त्री-पुरुष आदि की भावनाओं से ऊपर उठकर विश्व कल्याण की आकांक्षाओं से परिपूर्ण होता है । प्रेम अपने शुद्ध रूप में पूर्णत: नि:स्वार्थ होता है । प्रेम के व्यवहार में समर्पण एवं सेवा स्वाभाविक होती है । संसार के सभी देशों तथा धर्मों के महापुरुषों ने सम्पूर्ण जगत से प्रेम किया है एवं जगतकल्याण की भावना से उनका हृदय परिपूर्ण है । प्रेम एक सर्वकल्याणकारी भाव है । इसीलिये यह घृणा से अनन्त गुणा श्रेष्ठ है ।

३. हमें अपने भविष्य को सफल बनाने के लिये क्या करना चाहिये? – भूपेन्द्र सेन

उत्तर – किसी भी व्यक्ति की किसी भी क्षेत्र में सफलता का मूल आधार आत्मविश्वास होता है । अत: जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम हमें अपने ऊपर आत्मविश्वास होना चाहिये ।

दूसरा महत्वपूर्ण एवं मौलिक तत्त्व यह है कि भविष्य में हम किस विषय में सफल होना चाहते हैं । सफलता के लिये एक निर्दोष सर्वहितकारी एवं मौलिक लक्ष्य का होना नितान्त आवश्यक है । हमारी सफलता का लक्ष्य बहुजनहिताय बहुजनसुखाय होना चाहिये तभी हमारा जीवन सफल कहा जा सकेगा । अत: हमें जीवन के लिये सर्वमंगलकारी लक्ष्य चुनकर उसकी पूर्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये ।

४. गरीबी मनुष्य को पशु क्यों बना देती है? गरीबी में रहकर मनुष्य अपने आपको किस प्रकार उन्नत कर सकता है? – घनश्याम देवांगन

उत्तर – गरीबी मनुष्य को पशु क्यों बना देती है, यह धारणा ही असत्य एवं बुद्धिहीनतापूर्ण है । संसार के सभी देशों में ऐसे महापुरुष हो गये हैं, जिन्होंने गरीबी एवं अभावों में अपना जीवन प्रारम्भ किया था, किन्तु उनके महान चरित्रों से जगत के लाखों लोगों का हित हुआ । आज भी संसार के सभी देशों में ऐसे कुछ महापुरुष हैं, जो आर्थिक दृष्टि से अभाव में रहकर भी समाज सेवा एवं जगत-कल्याण के प्रति समर्पित हैं । अत: गरीबी मनुष्य को पशु बना देती है, यह विचार ही भ्रमपूर्ण और असत्य है । आत्मोन्नति में गरीबी कभी बाधक नहीं हो सकती ।

मनुष्य की उन्नति केवल भौतिक सम्पन्नता, अधिकार प्राप्ति अथवा शासन-प्राप्ति आदि में ही नहीं है । मनुष्य की वास्तविक उन्नति तो उसके चरित्र से होती है । चरित्र का तात्पर्य है कि मनुष्य अपनी इन्द्रियों और मन की दासता से मुक्त होकर लोक-कल्याणकारी जीवन व्यतीत करे । स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है कि दूसरों के लिये जीने में (live for others) ही जीवन की सफलता एवं सार्थकता है । मनुष्य जीवन के इस महान लक्ष्य की प्राप्ति में गरीबी या दरिद्रता कभी बाधक नहीं हो सकती ।

५. मन को एकाग्र करने के लिये हमें क्या करना चाहिये? - आरती साहू

उत्तर – यह प्रश्न अनादि काल से साधक-साधिकाओं द्वारा अथवा जीवन को उन्नत एवं श्रेष्ठ बनाने की इच्छा रखनेवालों के मन में उठता चला आ रहा है । इस प्रश्न का उत्तर किसी जादूई चमत्कार, जड़ी-बूटी और दवा की गोलियों आदि में नहीं है । मन की एकाग्रता साधन-सापेक्ष है और इस साधना का कोई लघु मार्ग (short-cut) नहीं है । दीर्घकालीन **दीर्घकालनैरन्तर्य...** । इसके लिये व्यक्ति को आजीवन सावधान होकर प्रयत्न करना पड़ना है । इस प्रयत्न का प्रारम्भ आत्मनिरीक्षण (self-introspection) से होता है ।

पहले तो यह ढूढ़ना पड़ता है कि किन प्रमुख कारणों से हमारा मन एकाग्र नहीं हो पा रहा है ।

गीता कहती है – **अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते** – अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन वश में होता है और तभी एकाग्रता की प्राप्ति होती है । इसका व्यावहारिक उपाय यह है कि जब भी जो काम करें, चाहे छोटा-से-छोटा काम, जैसे सबेरे उठकर ब्रश करने का काम, उसे भी जितना सम्भव हो, मन लगाकर करें । इसी प्रकार सभी कार्यों को करते समय उसमें मन लगाने का प्रयत्न करते रहें । तब एक दिन हम अपने मन को वांछित कार्यों में एकाग्र करने में सफल हो सकेंगे ।

❑❑❑

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

अनुवादक - स्वामी विदेहात्मानन्द

स्वानुभूति प्रकरण (जारी) –

सर्वात्मकोऽहं सर्वोऽहं सर्वातीतोऽहमद्वयः ।
केवलाखण्डबोधोऽहमानन्दोऽहं निरन्तरः।।५१६।।

अन्वय – अहं सर्वात्मकः, अहं सर्वः, अहं सर्वातीतः अद्वयः, अहं केवल-अखण्ड-बोधः, अहं निरन्तरम् आनन्दः ।

अर्थ – मैं सबका आत्म-स्वरूप हूँ, मैं सब कुछ हूँ, मैं सबके परे हूँ, मैं अद्वय हूँ, मैं शुद्ध अखण्ड चैतन्य-स्वरूप हूँ, मैं अबाध आनन्द-स्वरूप हूँ।

स्वाराज्यसाम्राज्यविभूतिरेषा
भवत्कृपाश्रीमहिमप्रसादात् ।
प्राप्ता मया श्रीगुरवे महात्मने
नमो नमस्तेऽस्तु पुनर्नमोऽस्तु।।५१७।।

अन्वय – महात्मने, श्रीगुरवे, भवत्-कृपा-श्री-महिम-प्रसादात् एषा स्वाराज्य-साम्राज्य-विभूतिः मया प्राप्ता । ते नमः नमः अस्तु । पुनः नमः अस्तु ।

अर्थ – हे महामना गुरुदेव, आपकी कृपा के महिमामय प्रसाद के रूप में मुझे इस स्वाराज्य (अपने स्वरूप) के साम्राज्य के वैभव (ब्रह्मानन्द) की प्राप्ति हुई है। आपको नमस्कार करता हूँ – बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

महास्वप्ने मायाकृत-जनि-जरा-मृत्यु-गहने
भ्रमन्तं क्लिश्यन्तं बहुलतर-तापैरनुदिनम् ।
अहंकार-व्याघ्र-व्यथितमिममत्यन्त-कृपया
प्रबोध्य प्रस्वापात्-परम-वितवान्-मामसि गुरो ।। ५१८

अन्वय – मायाकृत-जनि-जरा-मृत्यु-गहने महास्वप्ने भ्रमन्तं अनुदिनं बहुलतर-तापैः क्लिश्यन्तं अहंकार-व्याघ्रव्यथितं इमं मां, (हे) गुरो पर अत्यन्तकृपया प्रस्वापात् प्रबोध्य अवितवान् असि ।

अर्थ – मैं माया द्वारा निर्मित इस महास्वप्न (रूपी संसार) में दिन-पर-दिन जन्म, बुढ़ापा तथा मृत्यु रूपी गहन वन में भटकता हुआ इसके अनेक प्रकार के दुःख-तापों से कष्ट उठाता रहा और अहंकार-रूपी बाघ के द्वारा पीड़ित था। हे गुरुदेव, आपने मुझ पर अत्यन्त कृपा करके मुझे (अज्ञान की) इस प्रगाढ़ निद्रा से जगाकर मेरी पूरी तौर से रक्षा की है।

नमस्तस्मै सदैकस्मै कस्मैचिन्महसे नमः
यदेतद्विश्वरूपेण राजते गुरुराज ते ।।५१९।।

अन्वय – गुरुराज, यत् एतत् विश्वरूपेण राजते, कस्मैचित् महसे, सदा एकस्मै, तस्मै ते नमः ।

अर्थ – हे गुरुराज, आप अनिर्वचनीय तेज-स्वरूप हैं, सदा एकरूप हैं और इस विश्व-ब्रह्माण्ड के रूप में प्रकाशित हो रहे हैं, आपको नमस्कार करता हूँ।

उपदेश का उपसंहार –

इति नतमवलोक्य शिष्यवर्यं
समधिगतात्मसुखं प्रबुद्धतत्त्वम् ।
प्रमुदितहृदयः स देशिकेन्द्रः
पुनरिदमाह वचः परं महात्मा ।।५२०।।

अन्वय – समाधिगत-आत्मसुखं प्रबुद्ध-तत्त्वम् प्रमुदित-हृदयं शिष्यवर्यं इति, नतं अवलोक्य सः महात्मा देशिकेन्द्रः (देशिक-इन्द्रः) पुनः इदं परं वचः आह ।

अर्थ – समाधि के द्वारा आत्मसुख को पाकर, ब्रह्मज्ञान के द्वारा प्रबुद्ध, आनन्दपूर्ण हृदय से युक्त, उत्तम शिष्य को इस प्रकार प्रणिपात करते देखकर उन महात्मा गुरुदेव ने पुनः ये श्रेष्ठ बातें कहीं।

ब्रह्मप्रत्ययसन्ततिर्जगदतो ब्रह्मैव तत्सर्वतः ।
पश्याध्यात्मदृशा प्रशान्तमनसा सर्वास्ववस्थास्वपि ।
रूपादन्यदवेक्षितं किमभितश्चक्षुष्मतां दृश्यते
तद्वद्ब्रह्मविदः सतः किमपरं बुद्धेर्विहारास्पदम् ।।५२१।।

अन्वय – सर्वासु अवस्थासु अपि जगत् ब्रह्म-प्रत्यय-सन्ततिः, अतः सर्वतः सत् ब्रह्म एव अध्यात्मदृशा प्रशान्त-मनसा पश्य । अभितः अवेक्षितं रूपात् अन्यत् किम् चक्षुष्मतां दृश्यते? तद्वत् ब्रह्मविदः सतः अपरं किम् बुद्धेः विहार-आस्पदम्?

अर्थ – जाग्रत-स्वप्न आदि सभी अवस्थाओं में, जगत् ब्रह्मबोध का प्रवाह है; अतः जगत् सर्व प्रकार से ब्रह्म ही है। आध्यात्मिक दृष्टि की सहायता से, प्रशान्त मन से ऐसा ही सभी अवस्थाओं में देख। नेत्रोंवाला व्यक्ति चारों ओर विभिन्न रूपों के अतिरिक्त क्या अन्य कुछ देखता है? इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी के लिये बुद्धि के विहार हेतु सत्स्वरूप ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य क्या रह जाता है?

कस्तां परानन्दरसानुभूति-
मुत्सृज्य शून्येषु रमेत विद्वान् ।
चन्द्रे महाह्लादिनि दीप्यमाने
चित्रेन्दुमालोकयितुं क इच्छेत् ।।५२२।।

अन्वय – तां परानन्द-रसानुभूतिम् उत्सृज्य कः विद्वान् शून्येषु रमेतः महाह्लादिनि चन्द्रे दीप्यमाने चित्रेन्दुं आलोकयितुं कः इच्छेत्?

अर्थ – ऐसा कौन विवेकवान व्यक्ति होगा, जो परब्रह्म के आनन्द-रस की अनुभूति को छोड़कर, (पंच-भूतात्मक जगत् की) शून्य वस्तुओं में रस लेगा? अत्यन्त आह्लाद-दायक चन्द्रमा के प्रकाशित रहते भला कौन चित्र में अंकित चन्द्रमा को देखना चाहेगा? ❖(क्रमशः)❖

श्रीराम का संवेदनामय जीवन रहा

डॉ. विद्यानिवास मिश्र

(डॉ. विद्यानिवास मिश्र काशी विद्यापीठ और सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के पूर्व कुलपति, राज्यसभा के सदस्य तथा भारत के महान साहित्यकार थे । वे विख्यात् ललित निबन्धकार, लोक-संस्कृति के संपोषक, भारतीय संस्कृति के उत्कृष्ट चिन्तक और स्वजीवन से उसके संरक्षक थे । लोक की संवेदना उनकी रचनाओं में विभिन्न रूपों में प्रस्फुटित होती है । प्रस्तुत निबन्ध विवेक-ज्योति के पाठकों को लिये 'कार्ष्णि-कलाप' के अप्रैल अंक २०१४ से साभार प्रकाशित किया जा रहा है । - सं.)

राम के जन्म के आसपास राम के बारे में सोचते समय अजीब परेशानी होती है । राम की भूमिका में अपने को ढालने की बात सोचना बहुत ही असंभव लगती है । राम का स्वभाव है, रिश्ते-नाते निभाना, अपने को निज और पर के बीच अंतर को कम करने के द्वंद में पिसते रहना और लोक के लिए बस केवल एक हल्की मुस्कान चेहरे पर बनाए रखना, जिससे कि लोक उस प्रसन्नता का प्रसाद लेता रहे । राम को अपना दु:ख कहने के लिए कहीं भी कोई बस्ती नहीं मिलती । गाँव की हो या शहर की, उन्हें जंगल ही मिलता है, जहाँ राम अपने मन की बात कर सकते हैं । इतना आत्मसंयम और इतनी भीतरी विह्वलता कैसे निभाते होंगे राम ! उन्होंने बराबर अपने को कटघरे में पाया । ताड़का-वध पर आक्षेप, शूर्पणखा के अपमान पर आक्षेप, बालि-वध पर आक्षेप, अग्नि-परीक्षा पर आक्षेप, फिर सीता-निर्वासन पर आक्षेप, किसी का राम ने उत्तर नहीं दिया, सफाई नहीं दी ।

राम के मर्म को भवभूति ने समझा और राम से कहलाया – '**दु:ख संवेदनामेव रामे चैतन्यमर्पितम**' राम को चैतन्य मिला ही इसीलिए है कि वे दु:ख का पूरी तरह अनुभव करें । व्यथित होकर सीता के चरित्र के प्रति विश्वस्त होने के कारण जिस लोक के अपमान से राम ने सीता को गंगा-तीर पर भिजवाने की व्यवस्था की, उस लोक ने राम के त्याग का कोई महत्व नहीं समझा । यह लोक राम के निजी जीवन को कुछ महत्व नहीं देता । तभी तो 'उत्तर रामचरित' में जब पंचवटी की वन-देवता और सीता की सखी वासंती राम से जवाब माँगती है – तुमने सीता का निर्वासन क्यों किया? तो राम का उत्तर है – लोक को सीता का रहना सहन नहीं था । वासंती ने फिर पूछा – इसका कारण क्या है? राम उत्तर देते हैं – लोक ही जानें क्यों उन्हें सीता की अयोध्या में उपस्थिति अभिमत नहीं थी । वही राम पंचवटी में बारह वर्षों तक छाती पर सीता-निर्वासन की शिला ढोते रहने के बाद एकाएक उसे सहज विश्वासी मन में नीचे उतार देते हैं और फूट पड़ते हैं –

'देव्या शून्यस्य जगतो द्वादशः परिवत्सरः ।

प्रालीनमिव नामापि न च रामो न जीवितं ।।'

– देवी से सूनी हुई इस दुनिया के बारह वर्ष होने जा रहे हैं । देवी का नाम भी कहीं कोई नहीं लेता और राम अभी भी जीवित न रह सके, यह नहीं हुआ । राम यह सब सहते हुए भी जी रहे हैं ।

राम को लगा कि यह लोक-मर्यादा का ध्यान कितना महँगा पड़ा, उसने मुझे भीतर से तोड़ दिया ! राम, राम का शव ढो रहा है । बारह वर्षों तक मैंने उसाँस तक नहीं भरी और लोगों ने कोई परिताप नहीं किया । कैसा आत्मघाती निर्णय मैंने लिया ! लोक साहित्य ने तो राम के दु:ख को अधिक मुखर रूप से प्रस्तुत किया है । पुत्र-जन्म का संदेश लोक-साहित्य लक्ष्मण तक पहुँचाता है, राम को छोड़ देता है । लव-कुश राम के प्रश्न पर किसके बच्चे हो, उत्तर यही देते हैं – माँ जानकी हैं, नाना जनक हैं, दादा दशरथ हैं । चाचा लक्ष्मण हैं, पिता का नाम हम नहीं जानते । यह उत्तर राम के ऊपर कितनी मार्मिक चोट है । राम सीता को मनाने वाल्मीकि के आश्रम में जाते हैं, तो सीता कहती हैं – ऐसे पुरुष का मैं मुख भी नहीं देखूँगी, जिसने मुझे गर्भवती स्थिति में घर से बाहर निकाल दिया । वही सीता बार-बार यही कहती हैं, मेरा जब-जब जन्म हो मैं राम की ही रहूँ । कैसा दारुण एकनिष्ठ प्रेम है !

पूरा जीवन राम का बीता दूसरों का दु:ख ढोने में, दूसरों का दु:ख दूर करने में, छोटों को आदर देने में, छोटों का मन रखने में । राम ने भरत का मान रखने के लिए चौदह वर्ष बाद राज्य स्वीकारा, अन्यथा वन में राम परम प्रसन्न थे । राम तो छल प्रपंच से दूर रहना ही पसंद करते थे । इसीलिए जब अयोध्या का राज्य सँभाला, तो वे निश्छल राजनीति को ही प्रश्रय देते रहे, भले ही उन्हें एक अयोध्यावासी के छल प्रपंच का शिकार होना पड़ा । सहज

सीधे लोगों कों 'अटपटी प्रेम लटपटी' वाणी राम के लिए जितनी प्रिय थी, उतना अयोध्या का नागरिक शिष्टाचार-प्रिय नहीं था । ऐसे सीधे-सादे सदस्य जनों के बीच रमने वाले राम राजा होते हैं । यह राम की विडंबना नहीं तो क्या है? पर सामान्य जन है कि देश-काल का अन्तराल नहीं मानता, वह अभी भी राम को ही राजा मानता है, दूसरी सत्ताओं को कोई सत्ता ही नहीं मानता ।

राम सामान्य लोगों की विह्वलता में कितने ही परेशान हुए हों, विशिष्ट जनों की इस चेष्टा पर खुलकर हँसे होंगे । धन्य हैं बुद्धि के ये विधान, जो हवा की रस्सी बुन रहे हैं और उस रस्सी से सोचते हैं राम फँस जायेंगे । अरे भाई, राम को फँसाना ही है, तो स्नेह की डोर में बाँध दो । मुझे बँधा हुआ मान लो । तुम मुझसे लेखा-जोखा जितना लेना चाहो ले लो । सारे संसार की विपदा की जड़ मैं हूँ । मैं जवाब दूँगा । कैसे सबकी विपदा की जड़ हूँ, मैं सबमें हूँ, सबकी विपत्ति मेरी विपत्ति है, पर एक बार मुझे इस प्रकार बाँध के देखो । देखो, तुम्हारे जितने स्नेह-बन्धन हैं, वे मीठे होते हैं कि नहीं, तुम्हारे जितने भी आक्रामक आक्षेप हैं, वे उलाहने में परिवर्तित हो जाते हैं या नहीं । कभी तुमने अपने नए शिशु में मुझे देखा है? कभी अपने बड़े भाई में मेरी छवि देखी है? देखते तो लगता, राम कोई अजनबी नहीं, बिल्कुल हम-तुम जैसे साधारण सीधे-सादे मनुष्य हैं, बाहें कुछ अधिक लंबी हैं, घुटनों को छूती हुई । रीढ़ की हड्डी कुछ अधिक सीधी है, शरीर तना हुआ है, गोरे नहीं हैं, अधिकांश भारतीयों के रंग में मिले 'सांवरे सलोने' हैं । राम कोई जादू की पिटारी नहीं रखते । राम कोई आलिया फकीर नहीं । उनकी झोली में कोई भभूत नहीं । बिल्कुल घरबारी आदमी हैं । हाँ, तुम स्वयं घरबारी नहीं हो, तो कोई बात नहीं । राम को समझने के लिए घर को समझना जरूरी है । जिसको घर से ममत्व होता है, वह राम को समझता है और जिसके लिए सर्वत्र घर जैसा लगता है, वह राम को समझ पाता है, अनुभव कर पाता है । जिसका मन घर की विशालता से भरता है, उसी को राम भरते हैं । जो घर वापस लौटना चाहता है, वही राम के पास वापस लौटना चाहता है ।

राम का होना इतना आसान है, इसी से इतना मुश्किल है । कारण स्पष्ट है । हम दूसरों का ही छल देखते हैं, अपना नहीं । राम कहीं भी छल नहीं देखते, देखते तो कैकेयी को भी अयोध्या लौटने पर इतने स्नेह से न अपनाते ।

उन्हें इसकी चिंता नहीं हुई कि भरत राम के ऊपर आक्रमण करेंगे । हम हैं कि कहीं हमें कोई विश्वसनीय दिखाई नहीं पड़ता । अविश्वास में ही हम घुटते रहते हैं । अब कोई कहे राम ने सीता पर क्यों अविश्वास किया, तो उसे पहले पूछना चाहिए था कि राम सीता एक दूसरे को जितना जानते हैं, उतना कौन जानता है । वहाँ प्यार के सिवा किसी अन्य भाव का कोई स्थान नहीं । राम सीता को महनीय बनाना चाहते हैं । वे सीता पर अविश्वास करने के पहले अपने घर पर अविश्वास करते । सीता के सामर्थ्य पर, सीता के एकनिष्ठ प्यार पर, राम को अटूट विश्वास है । वही विश्वास उनकी वास्तविक शक्ति है ।

राम साकार विश्वास हैं, इसलिए सामान्य जन को राम पर इतना विश्वास है, इतना भरोसा है । राम का होने का अर्थ जीवन में विश्वासी होना है, राम होने का अर्थ सहज विश्वासी होना है । ❑❑❑

प्यारे श्यामसुन्दर ! कब दर्शन दोगे?

नन्हेंदास

हे प्रिय, तुम नहीं आये । मन बेचैन है । आँखों में नींद नहीं । देह में विश्राम नहीं । जीवन दूभर हो गया है ।

मेरा कोई सहारा नहीं । किसी से कोई नाता नहीं । सांसारिक सम्बन्ध सब झूठे हैं । केवल एक तेरा ही सहारा है । तुम अब तक आये नहीं । क्यों?

रात-दिन तुम्हारी ही रट लगी रहती है । सोचता हूँ, एक बार श्यामसुन्दर के मुखमण्डल के दर्शन हो जायँ, तो मेरा जीवन धन्य हो जाय ।

आँखों में वर्षा की झड़ी लगी है । हे मेरे प्यारे कन्हैया, तेरे बिना मेरा मन अत्यन्त उदास है । जीवन व्यर्थ जा रहा है । चारों ओर से विषयों के आकर्षण चित्त को झकझोर रहे हैं । मैं क्या करूँ? काल का प्रवाह मुझे अपनी धारा में बहाये ले जा रहा है । कहीं भी विश्राम नहीं है । क्या तुम भी मुझे छोड़ दोगे? क्या तुम्हारे दरबार में भी मुझे जगह नहीं मिलेगी?

मेरे प्यारे श्यामसुन्दर ! कब तुम्हारे दर्शन होंगे? कब मेरे हृदय के कमल-दल प्रस्फुटित होंगे? कब मेरे हृदय के सिंहासन में विराजमान होकर तुम अपनी लीलाओं से मुझे परम शान्ति और परम आनन्द प्रदान करोगे?

स्वामी विवेकानन्द की १५०वीं जन्म-जयन्ती के उपलक्ष्य में रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ द्वारा सम्प्रेषित

स्वामी विवेकानन्द रथ का छत्तीसगढ़ प्रवास

१जनवरी, २०१४ से २ फरवरी, २०१४ तक

एक रथ-यात्री की डायरी से

स्वामी विवेकानन्द जी की १५०वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ द्वारा देश-विदेश में अनेकों लोककल्याणकारी योजनायें संचालित की जा रही हैं। उनमें से एक योजना थी **स्वामी विवेकानन्द रथ** का भारत-भ्रमण। रथ अधिक-से-अधिक स्थानों और लोगों तक पहुँच सके, इसलिये सुविधा हेतु प्राय: एक ही प्रकार के ४ रथ हैदराबाद से बनवाये गये, जिनमें सामने की ओर स्वामी विवेकानन्द जी की भव्य ९ फिट खड़ी मूर्ति है और पीछे की ओर भी स्वामीजी की ही सुन्दर ५ फिट ध्यानस्थ मूर्ति है। रथ में सामने की ओर किसी में ६, किसी में ५ और किसी में ४ घोड़े हैं। दो आगे और दो पीछे चार सिंह हैं। एक किनारे ४ और दूसरे किनारे ४, कुल ८ हाथियाँ हैं। सामने की ओर स्वामीजी के सिर पर बहुत सुन्दर छत्र है। पीछे की ओर मन्दिरनूमा ऊपर से आवरण है। रथ की ऊँचाई १५ फिट, चौड़ाई १० फिट और लम्बाई २० फिट थी। कुल मिलाकर रथ बड़ा ही सुन्दर और आकर्षक था।

रथ का उद्देश्य — एक दिन भिलाई में मुझसे दूरदर्शन के एक प्रतिनिधि ने पूछा - "इस रथ-भ्रमण का क्या उद्देश्य है?" मैंने उत्तर दिया - "जब स्वामी विवेकानन्द जी का रथ जिस-किसी भी शहर, ग्राम में जाय और लोग स्वामी विवेकानन्द जी की दिव्य मूर्ति का दर्शन करें, तो वे लोग स्वामीजी के महान, आदर्शमय जीवन को याद करें। उनके जन-कल्याणकारी शिक्षाओं और उपदेशों को याद करें और उसे अपने जीवन में आचरण करें। राष्ट्र में परस्पर प्रेम, सौहार्द, ऐक्य की भावना का विकास करें, इस राष्ट्र और सम्पूर्ण विश्व में शान्ति का विस्तार करें, अपने जीवन में प्रेम और शान्ति स्थापित कर संसार को महान संदेश दें।"

५ घोडोंवाला दिव्य रथ अप्रैल, २०१३ में झारखंड के राँची से प्रारम्भ हुआ और झारखंड, बिहार, उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड, मध्यप्रदेश विचरण करता हुआ छत्तीसगढ़ में १ जनवरी, २०१४ को खैरागढ़ में प्रवेश किया, जहाँ रथ का बड़ा भव्य स्वागत हुआ। रथ के साथ थे रथ-संचालक स्वामी सोमेशानन्द जी महाराज, उनका कुशल ड्राइवर मंगल और सहयोगी सोम। रास्ते में से जुड़ गये थे स्वामी प्रज्ञानन्द जी, जो इस ऐतिहासिक रथ-परिक्रमा का आनन्द लेते हुये इन्दौर से चल रहे थे और भिलाई तक साथ रहे। छत्तीसगढ़ की सीमा में स्वागत करने के लिये रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी, रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर के सचिव स्वामी व्याप्तानन्द जी, स्वामी विभानन्दजी, स्वामी देवभावानन्द जी, ब्रह्मचारी नन्द कुमार जी, मध्य प्रदेश-छत्तीसगढ़ रामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा के संयोजक श्री हिमाचल मढ़रिया जी, विवेकानन्द ग्रामीण विकास समिति बरबंदा, रायपुर के सचिव श्री वीरेन्द्र वर्मा जी आदि उपस्थित थे। सीमा-प्रवेश में रथ के भव्य स्वागत के बाद रथ खैरागढ़ संगीत विश्वविद्यालय में पहुँचा, जहाँ स्वामीजी का भव्य स्वागत हुआ। उसके बाद शाम को स्वामी विवेकानन्द का रथ छत्तीसगढ़ राज्य के प्रिय मुख्यमंत्री डॉ. रमन सिंह जी की जन्मभूमि कवर्धा में पहुँचा। वहीं रथ का रात्रि विश्राम हुआ। २ जनवरी, २०१४ को मुख्यमंत्री जी के प्रतिनिधि-विधायक और अन्य लोगों ने रथ का भव्य स्वागत किया। वहाँ दिनभर रथ कवर्धा नगर में भ्रमण किया और कई विद्यालयों में कार्यक्रम भी हुये, जिसमें स्वामी सत्यरूपानन्द जी और स्वामी व्याप्तानन्द जी ने संबोधित किया। वहाँ से शाम को रथ धमदा के लिये प्रस्थान किया।

धमदा में रथ का स्वागत

२ जनवरी, २०१४ को ही सन्ध्या ७.३० बजे रथ धमधा में आ गया, जहाँ पहले से पहुँचकर श्री हिमाचल मढ़रिया जी और स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने श्री अरुण अग्रवाल और उनके साथियों के साथ मिलकर रथ-निवास और कार्यक्रम की सारी व्यवस्था की थी। धमधा चौराहे से कई मोटर साइकिल-सवार युवक आगे-आगे रथ का निर्देशन करते हुये सर्किट हाउस में ले आये, जो शोभा देखते ही बनती थी। सर्किट-हॉउस में स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी की उपस्थिति में श्री अरुण अग्रवाल, वहाँ के

नगरपालिका अध्यक्ष, पार्षद, जिला सरपंच सचिव, श्रीमती अचला अग्रवाल और अन्यान्य गणमान्य लोगों ने रथ का स्वागत किया ।

धमदा, भिलाई और दुर्ग में रथ के स्वागत का संक्षिप्त विवरण म.प्र.-छ.ग. के संयोजक श्री हिमाचल मढ़रिया जी ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है —

"०२ जनवरी, २०१४ को संध्या करीब ७.०० बजे रथ धमधा में पहुँचा । श्री अरूण अग्रवाल के साथ वहाँ के नगर-पालिका अध्यक्ष तथा पार्षद और नागरिकों ने रथ का भावभीना स्वागत किया । रात्री विश्राम सर्किट हाऊस में हुआ ।

०३ जनवरी, २०१४ को रथ धमधा के १५ कि.मी. क्षेत्र के विभिन्न स्कूलों, गाँवों में गया, जहाँ प्राचार्य, शिक्षक-शिक्षिकाओं तथा छात्र-छात्राओं ने रथ का श्रद्धापूर्वक स्वागत किया । विभिन्न गाँवों में लोग रास्त में फूल-नारियल लेकर स्वागत के लिये प्रतिक्षा कर रहे थे । ग्रामीणों की सरल सहज श्रद्धा, प्रसन्नता और भक्ति देखते ही बनती थी ।

दोपहर का भोजन श्री भगतजी के सौजन्य से ग्राम अकोली में हुआ । तत्पश्चात रथ पुन: धमधा की ओर रवाना हुआ । पुन: धमधा नगर में प्रवेश करते ही रास्ते में स्कूल के बच्चों ने एक बहुत बड़ी रैली के रूप में रथ का मार्गदर्शन करते हुए शीतला माता का दर्शन करते हुए शहर के बीच में स्थित भागवत कथा के पंडाल में पहुँचा दिया । सभी उपस्थित जनसमूह ने रथ का दर्शन किया । उसके बाद स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी और स्वामी प्रज्ञानन्द जी महाराज ने जनसमूह को सम्बोधित करते हुए स्वामी विवेकानन्द के विचारों से अवगत कराया । इस दौरान रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य का विक्रय भी किया गया ।

तत्पश्चात् रथ कोड़िया ग्राम में पहुँचा, जहाँ छात्र-छात्राओं तथा ग्रामवासियों के समूह ने रथ पर स्वामी विवेकानन्द का पुष्पहार से स्वागत किया । बहुत देर तक लोग रथ में विद्यमान स्वामी विवेकानन्द जी की मूर्ति का स्वागत करते रहे । तदनन्तर स्वामी विवेकानन्द रथ ननकट्ठी पहुँचा । मार्ग की असुविधा और रथ की स्थिति ठीक नहीं होने के कारण उस दिन रथ ननकट्ठी ग्राम में नहीं जा सका । इसलिये मुख्यमार्ग पर ही ग्रामवासियों ने रथ का स्वागत किया । उसके बाद शाम ७ बजे रथ भिलाई के लिये प्रस्थान किया ।

भिलाई में स्वामी विवेकानन्द रथ का भव्य स्वागत

लगभग सन्ध्या ८ बजे रथ श्रीरामकृष्ण सेवा मंडल, सेक्टर-७, भिलाई पहुँचा। वहाँ भिलाई आश्रम के श्रीमत् स्वामी प्रज्ञानन्दजी महाराज, पार्षद श्री लक्ष्मीपति राजू तथा उनके सहयोगियों ने स्वामी विवेकानन्द का पुष्पहार से स्वागत किया । आश्रम के भक्तों ने भी स्वामी विवेकानन्द का पुष्पहार से स्वागत किया । रथ-वासियों का रात्री-विश्राम श्री रामकृष्ण सेवा मंडल, सेक्टर - ७, भिलाई में हुआ और स्वामी विवेकान्द रथ बगल में ही माँ आनन्दमयी आश्रम में रखा गया ।

०४. जनवरी, २०१४ को पूरा दिन-रात विख्यात् अभियन्ता श्री हिमाचल मढ़रिया जी के निर्देशन में वहीं रथ का विधिवत् रिपेयर हुआ । क्योंकि कई महीनों से भ्रमण करते-करते रथ जर्जर और कमजोर हो चुका था । उस दिन रथ की हालत बहुत खराब थी । श्री मढ़रिया जी ने अपने कई विशेषज्ञ मिस्त्रियों को लेकर दिन-रात लगकर रथ का रिपेयर, पेन्टींग कराया और पहले से भी अधिक अच्छा रथ को बनवाया । हिमाचल मढ़रिया के कुशल निर्देशन में हुये रथ की मरम्मत के कारण ही रथ पूरे छत्तीसगढ़ में भ्रमण करने में सफल हुआ । (सावशेष)

लघु-बोध कथा

आस्था

लड़ाई के दिनों की घटना है । लंदन के पास बम वर्षा हो रही थी । वातावरण में भय छाया था । ज्यादातर लोग घर छोड़ चुके थे और खंदकों में छिप गये थे । सारा शहर रात में खाली हो जाता था । लेकिन एक बूढ़ी महिला अपने घर में मजे से सोती थी । पड़ोसियों ने पूछा, 'बुढ़िया, क्या तुम्हें डर नहीं लगता है, क्या तुम रात को जागती नहीं? बुढ़िया बोली, 'मुझे जागने की क्या जरुरत है? मेरा प्रभु रात को जागता रहता है । मैं प्रभु से प्रार्थना करके सो जाती हूँ । दोनों को जागने की जरुरत नहीं होती । या तो मैं जगती रहूँ या मेरा प्रभु जागता रहे । मैं सोती हूँ, मेरा प्रभु जागता है । मैं जागती हूँ, मेरा प्रभु सोता है । दोनों एक साथ न जागते हैं और न सोते हैं ।'

- टी. प्रकाश

(नवभारत टाइम्स, मुम्बई से साभार)
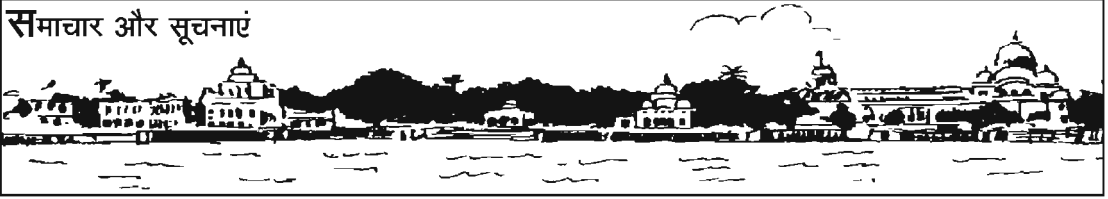
राज्यपाल महोदय द्वारा स्मारिका विमोचन

१२ मई, २०१४ की शाम को छत्तीसगढ़ के सम्माननीय राज्यपाल श्री शेखरदत्त जी ने रामकृष्मण मिशन आश्रम, नारायणपुर के द्वारा प्रकाशित अखिल भारतीय युवा सम्मेलन की स्मारिका का विमोचन किया। इस अवसर पर रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी और रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर के सचिव स्वामी व्याप्तानन्द जी उपस्थित थे।

रामकृष्ण मठ, नागपुर के द्वारा व्यक्तित्व-विकास के विविध कार्यक्रम आयोजित किये गये

रामकृष्ण मठ में १४, १५ नवम्बर, २०१३ के अन्तर्राज्यीय युवा सम्मेलन में ५ राज्यों के ३००० युवक-युवतियों ने भाग लिया। १९ फरवरी, २०१४ को अमरावती शहर में आयोजित राज्यस्तरीय युवा-सम्मेलन में ५००० युवक-युवतियाँ सम्मिलित हुये। समूह गीत प्रतियोगिता में १६० विद्यालयों ने भाग लिया। चित्रकला तथा भाषण प्रतियोगिता में ३५४ स्कूल, कॉलेजों के २२,१६६ छात्रों ने भाग लिया। स्वामी विवेकानन्द स्वाध्यायमाला में ३१५० स्कूलों के ४१,००० छात्रों ने भाग लिया। गदाधर प्रकल्प में कोराड़ी ग्राम के झोपड़ीवासी ४०० बच्चों को प्रतिदिन पौष्टिक आहार और रविवार को व्यक्तित्व-विकास शिविर का आयोजन किया गया। महाराष्ट्र के विदर्भ के ९ जिलों में अध्यापकों के लिये निबन्ध आदि प्रतियोगितायें आयोजित हुयीं, जिसमें २५०० अध्यापकों ने भाग लिया।

रामकृष्ण मिशन की स्थापना औपचारिक रूप से १ मई १८९७ को स्वामी विवेकानन्द के द्वारा हुई थी। उसका ११८वाँ स्थापना दिवस रामकृष्ण मठ व रामकृष्ण मिशन के मुख्यालय बेलुड़ मठ में मनाया गया। इस अवसर पर आयोजित सभा की अध्यक्षता रामकृष्ण संघ के सह-संघाध्यक्ष पूज्य स्वामी स्मरणानन्दजी महाराज ने की एवं महासचिव स्वामी सुहितानन्दजी ने सभा को सम्बोधित किया।

स्वामी विवेकानन्द के १५०वें जन्मवर्ष के निमित्त रामकृष्ण मठ व रामकृष्ण मिशन के विभिन्न शाखा केन्द्रों में अनेक कार्यक्रमों का आयोजन किया गया, जिसका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है -

दिल्ली आश्रम में १ से १५ मई तक चार त्रि-दिवसीय कार्यशालाओं का आयोजन किया गया जिसमें विभिन्न विद्यालयों में आदर्शपरक शिक्षण के संचालन के लिये ३१८ शिक्षकों को प्रशिक्षण दिया गया।

राजकोट (गुजरात) मे स्वामी विवेकानन्द रथयात्रा का शुभारंभ ११ मई, २०१४ को हुआ। इस रथ के द्वारा गुजरात के २८ जिलों के २५० तालुका क्षेत्रों का परिभ्रमण कर स्वामी विवेकानन्द के जीवन एवं संदेश का प्रचार किया जाएगा।

राँची मोराबादी (झारखंड) में ४ मई, २०१४ को 'कृषिविज्ञान' पर एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया। इसमें वैज्ञानिक, विश्वविद्यालय के प्राध्यापक, सरकारी कर्मचारी एवं किसानों सहित २०० प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

कोलकाता, स्वामी विवेकानन्द के पैतृक निवास के सौजन्य से २५ अप्रैल, २०१४ को सुंदरवन क्षेत्र में और ३ मई, २०१४ को कोलकाता में, इस तरह दो युवा-सम्मेलनों का आयोजन किया गया, जिसमें कुल ७०० युवाओं ने भाग लिया। ६ मई को एक सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया गया जिसमें लगभग ६५० दर्शक उपस्थित थे। आश्रम के मार्गदर्शन में २७ अप्रैल से ११ मई, २०१४ तक एक भक्त सम्मेलन एवं तीन सार्वजनिक सभाओं का आयोजन किया गया, जिसमें लगभग १४०० लोगों ने भाग लिया।

गुवाहाटी आश्रम ने प्रथम बार आसामी भाषा में त्रैमासिक पत्रिका 'विवेक भास्कर' का शुभारंभ किया। इस पत्रिका का विमोचन रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन के न्यासी स्वामी शिवमयानन्दजी के द्वारा १ मई, २०१४ को हुआ।

श्रीलंका स्थित कोलम्बो के श्री पूनमबाला वनेश्वरार मन्दिर में स्वामी विवेकानन्द ने १८९७ में भेंट दी थी। कोलम्बो शाखा-केन्द्र द्वारा वहाँ १ मई, २०१४ को स्वामीजी की ३.५ फीट कांस्य मूर्ति का अनावरण किया गया।

जापान की वेदान्त सोसायटी द्वारा २५ मई, २०१४ को स्वामी विवेकानन्द के १५०वें जन्म-महोत्सव का समापन समारोह आयोजित किया गया। इस समारोह नें रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन के महासचिव, जापान में भारत एवं नेपाल सरकार के राजदूत, ईसाई एवं बौद्ध धर्म के अनुयायियों ने वक्तृताएँ दीं।